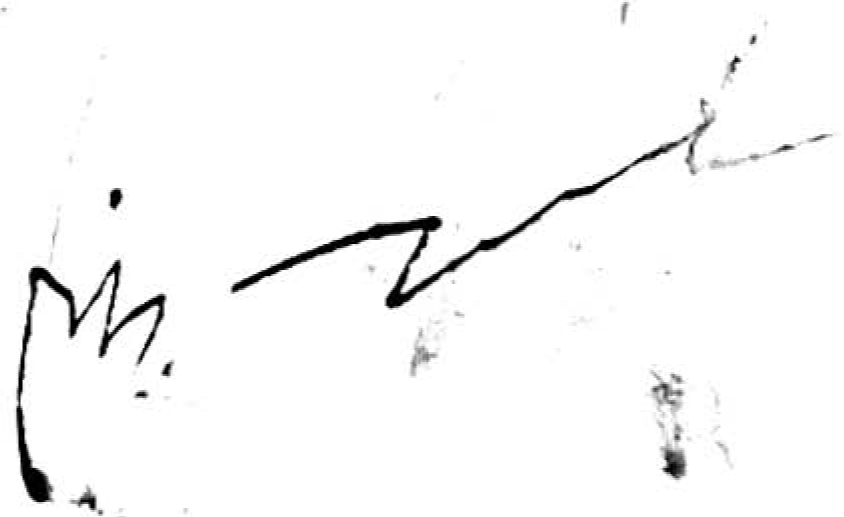
A C

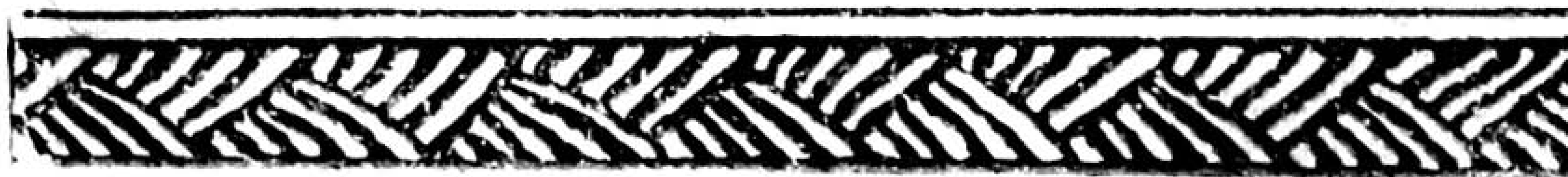
by Ram

भक्षा हिदी









साहित्य-रत्न-माला—४

अच्छी हिन्दी

[हिन्दी भाषा में होनेवाली सभी प्रकार की भूलों का व्यवस्थित विवेचन]

लेखक

रामचन्द्र वर्म्मा

प्रस्तावना-लेखक

बाबूराव विष्णु पराड़कर

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय

बनारस

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय,
बनारस ।

पहला संस्करण
मार्गशीर्ष सं०
मूल्य १।।।)

मुद्रक
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
बनारस ।

भूमिका

दूसरों के दोष ढूँढ़ते फिरना कोई अच्छी बात नहीं है। नीति और धर्म दोनों ही इसे बुरा कहते हैं। परन्तु मैं अपने दुर्भाग्य को क्या कहूँ! मुझे आरम्भ से ही कुछ ऐसी दूषित प्रवृत्ति प्राप्त हुई थी जो बलपूर्वक मेरा ध्यान—चाहे एक विशिष्ट क्षेत्र में ही सही—दूसरों के दोषों की ओर ही आकृष्ट करती थी। वह क्षेत्र था भाषा का।

इस ईसवी शताब्दी के बिलकुल आरम्भिक सनों में, जब कि मेरी अवस्था बारह-तेरह वर्ष की ही थी और मैं हरिश्चन्द्र स्कूल के चौथे-पाँचवें दरजे में पढ़ता था, मैं अपने सहपाठियों को अशुद्ध बोलने पर प्रायः टोका करता था। पहले तो कुछ दिनों तक मेरे सहपाठी मेरी हँसी उड़ाते थे। पर धीरे-धीरे उनकी समझ में आने लगा कि मैं उन्हें जो कुछ बतलाता हूँ, वह ठीक बतलाता हूँ। फिर तो और लड़के भी दूसरों की भाषा सम्बन्धी भूलें पकड़ने लगे। कभी-कभी उन लोगों में झगड़ा भी हो जाता था। कोई कहता था कि यह प्रयोग ठीक है; और कोई कहता था कि नहीं, यह ठीक है। उस समय निर्णय कराने के लिए वे मेरे पास आते थे। मैं लज्जित भी होता था और संकुचित भी। कारण यह कि उनमें कुछ ऐसे लड़के होते थे जो अवस्था में भी मुझसे बड़े होते थे और पढ़ते भी थे मुझसे ऊँचे दरजों में। फिर भी मैं उन्हें अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार बतला देता था कि क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है। और उस समय मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता था, जब मैं देखता था कि मेरे निर्णय से दोनों पक्षों का समाधान हो गया! फिर भी वह सब था लड़कपन का खेलवाड़ ही।

उन्हीं दिनों मैं अपने सहपाठी स्व० बा० श्रीकृष्ण वर्म्मा के साथ उनके भारत-जीवन प्रेस में जाने लगा था। उनके चाचा स्व० बाबू रामकृष्ण वर्म्मा उन दिनों जीवित थे। काशी में उस जमाने में भारत-जीवन प्रेस ही हिन्दी के दिग्गज साहित्यज्ञों का सबसे बड़ा केन्द्र था। वहीं मुझे पहले-पहल स्व० श्री

जगन्नाथदास जी रत्नाकर, पं० किशोरीलाल जी गोस्वमी, बाबू देवकीनन्दन खत्री, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री आदि अनेक पूज्य महानुभावों के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। समय-समय पर अनेक बाहरी विद्वान् भी वहाँ आया करते थे। बाबू रामकृष्ण वर्म्मा उन लोगों के सामने मुझे बुलाकर बैठा देते थे और उन लोगों से तरह-तरह के उलटे-सीधे वाक्य बनवाकर मुझसे उनके शुद्ध रूप पूछा करते थे। शुद्ध रूप बतलाने पर अनेक बार मुझे उन पूज्य महानुभावों से आशीर्वाद भी मिला करता था। इस प्रकार धीरे-धीरे मानो मुझे भाषा शुद्ध करने की शिक्षा-सी मिलने लगी। परन्तु वह भी लड़कपन का खेलवाड़ ही था।

स्कूल में मेरी दूसरी भाषा उर्दू थी। हिन्दी मैं बिलकुल नहीं जानता था। भारत-जीवन में ही मैंने पहले-पहल हिन्दी सीखी और वहीं से मुझे हिन्दी का शौक शुरू हुआ। यह बात सन् १६०३ की है। परन्तु उस समय किसी बात में कोई गम्भीरता नहीं थी। बारह तेरह वर्ष के बालक में गम्भीरता हो भी कैसे सकती थी! परन्तु ज्ञान का कुछ-कुछ बीजारोपण हो चला था।

भाषा के दोषों पर पहले-पहल कुछ गम्भीरतापूर्वक विचार करने का अवसर मुझे शायद सन् १९०७-०८ में मिला था। उन दिनों काशी से एक औपन्यासिक मासिक-पत्र निकला करता था। एक दिन उसके कार्यालय की ओर से नीले रंग का छपा हुआ एक ऐसा पोस्ट कार्ड भारतजीवन में आया, जिसके चारो ओर शोकसूचक काला हाशिया लगा था। उस कार्ड पर कार्यालय के व्यवस्थापक की ओर से (कहने की आवश्यकता नहीं कि उस कार्यालय के व्यवस्थापक, संचालक और मासिक-पत्र के सम्पादक आदि सब कुछ एक ही सज्जन थे) लिखा था—'दुःख है कि इस कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुक्त······के एक मात्र पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इस मास का अंक समय पर न निकल सका।' आदि। भारतजीवन में कई आदमियों ने वह कार्ड पढ़ा, पर किसी का ध्यान उसमें के 'एक मात्र पिता' पर न गया। जब मैंने उसे देखा, तब मुझे उस मासिक-पत्र के सम्पादक के पिता की मृत्यु का तो दुःख हुआ ही—कारण यह कि सम्पादक जी स्कूल में मेरे सहपाठी भी रह चुके थे—पर उससे भी अधिक दुःख इस बात का हुआ कि

उन्होंने 'एक मात्र' का अर्थ बिना समझे ही उसे अपने 'पिता' के आगे लगा दिया था। उन्होंने कहीं किसी समाचार-पत्र में पढ़ा होगा कि अमुक सज्जन के एक मात्र पुत्र का देहान्त हो गया। बस उन्होंने वही 'एक मात्र' अपने पिता के साथ भी लगा दिया था। चलिए, भाषा मुहावरेदार हो गई !

उसी दिन से मैं भाषा के दोषों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगा। उन दिनों भी भाषा में दोष होते थे, पर उतने अधिक नहीं, जितने अधिक आज-कल दिखाई देते हैं। थोड़े से लोग हिन्दी लिखते थे; और जो कुछ लिखते थे, वह समझ-बूझकर लिखते थे और कुछ दिनों तक हिन्दी लिखना सीखकर तब लिखते थे। न तो आज-कल की तरह लेखकों की बाढ़ थी और न धाँधली। तब से अब-तक प्रायः सभी क्षेत्रों में हिन्दी की बहुत अधिक उन्नति हुई है—आश्चर्यजनक उन्नति। देश के कोने-कोने में बहुत से हिन्दी लेखक पैदा हो गये हैं। सभी उसे राष्ट्र भाषा कहते हैं और सभी उसे राष्ट्र भाषा के आसन पर आसीन करना चाहते हैं। पर हिन्दी की इस सर्वाङ्गीण उन्नति के समय भी भाषा की जितनी अधिक दुर्दशा आज-कल देखने में आती है, उतनी पहले कभी मेरे देखने में नहीं आई। आज-कल तो यह प्रथा सी चल गई है कि स्कूल या कालेज से निकले—चाहे पास होकर और चाहे फेल होकर—और हाथ धोकर पड़ गये बेचारी हिन्दी के पीछे। यदि सौभाग्यवश किसी समाचार-पत्र के कार्यालय में जैसे-तैसे कोई छोटी-मोटी जगह मिल गई और वहाँ चार-छः महीने टिक गये, तो फिर क्या पूछना है ! अब उनके मुकाबले में कोई हिन्दी लेखक ठहर ही नहीं सकता। सबके दोष निकालना, सबकी निन्दा करना, सबकी टीका करना और सबके लिए कहना कि उन्हें आता ही क्या है ! जो लेखक स्वयं उनके जन्म-काल से भी पहले से हिन्दी की सेवा करते आये हों, उन्हें भी ऐसे नये दिग्गज तुच्छ ठहराने में संकोच नहीं करते। और स्वयं ? स्वयं नितान्त अशुद्ध, भद्दी और ऊट-पटाँग भाषा में बे-सिर-पैर की बातें लिखने या अशुद्ध अनुवाद करने के सिवा और कुछ नहीं जानते। किसी के पास कुछ दिनों तक बैठकर कुछ सीखना या किसी से कुछ पूछना तो वे अपना अपमान समझते हैं ! यदि कोई दया करके उन्हें कुछ बतलाना भी चाहे तो वे उसका अनादर भले ही न कर

सकें, तो भी उसे उपेक्ष्य अवश्य समझेंगे। दुर्भाग्यवश ऐसे ही लेखकों की संख्या आज-कल हिन्दी में बराबर बढ़ती जा रही है।

प्रायः तीस वर्षों से हर साल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन धूम-धाम से होते हैं। उनमें बड़े-बड़े और पूज्य विद्वान एकत्र होते हैं। उनसे भी अधिक आदरणीय विद्वान उसके सभापति होते हैं। भाषणों में हिन्दी के सभी अंगों की उन्नति के उपाय बतलाये जाते हैं। परन्तु भाषा की शुद्धता का कभी कोई प्रश्न ही किसी के सामने नहीं आता। स्वयं भाषा का स्वरूप विशुद्ध रखने के सम्बन्ध में कभी कोई एक शब्द भी नहीं कहता। शायद उसकी आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। और आवश्यकता समझी ही क्यों जाने लगी? हिन्दी हमारी मातृभाषा जो ठहरी। उसे हम जिस रूप में लिखेंगे, वही रूप शुद्ध होगा!

समाचार-पत्र, मासिक-पत्र, पुस्तकें सभी कुछ देख जाइए। सबमें भाषा की समान रूप से दुर्दशा दिखाई देगी। छोटे और बड़े सभी तरह के लेखक भूलें करते हैं, और प्रायः बहुत बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। हिन्दी में बहुत बड़े और प्रतिष्ठित माने जानेवाले ऐसे अनेक लेखक और पत्र हैं, जिनकी एक ही पुस्तक अथवा एक ही अंक में से भाषा-सम्बन्धी सैकड़ों तरह की भूलों के उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं। पर आश्चर्य है कि बहुत ही कम लोगों का ध्यान उन भूलों की ओर जाता है। भाषा में भूलें करना बिलकुल आम बात हो गई है। विद्यार्थियों के लिए लिखी जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों तक की भाषा बहुत लचर होती है। यहाँ तक कि व्याकरण भी, जो शुद्ध भाषा सिखलाने के लिए लिखे जाते हैं, भाषा सम्बन्धी दोषों से रहित नहीं होते। जिन क्षेत्रों में हमें सबसे अधिक शुद्ध और परिमार्जित भाषा मिलनी चाहिए, जब उन क्षेत्रों में भी हमें भद्दी और गलत भाषा मिलती है, तब बहुत अधिक दुःख और निराशा होती है। मेरे परम प्रिय और मान्य मित्र स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल भी भाषा की यह दुर्दशा देखकर बहुत दुःखी होते थे। हिन्दी शब्द-सागर का सम्पादन करते समय हम लोगों को हिन्दी साहित्य के सभी मुख्य अंगों का अवलोकन करना पड़ा था। उस समय भाषा-सम्बन्धी अनेक भूलें और विलक्षणताएँ हम लोगों के सामने आती थीं। एक बार हम लोगों

का यह विचार भी हुआ था कि हिन्दी के आठ प्रतिष्ठित तथा मान्य दिवंगत लेखकों और आठ वैसे ही जीवित लेखकों की मुख्य-मुख्य रचनाएँ एकत्र की जायँ; और उनमें से भाषा के दोष निकालकर इस दृष्टि से हिन्दी जगत् के सामने रक्खे जायँ कि लोग उस प्रकार के दोषों और भूलों से बचें। उस समय हम लोगों ने इस विषय में कुछ कार्य आरम्भ भी किया था और एक-दो पुस्तकों से भूलें चुनी भी थीं। परन्तु इसके थोड़े ही दिनों बाद शुक्ल जी नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष विभाग छोड़कर हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये और मैं वहाँ अकेला पड़ गया। अतः वह काम उस समय जहाँ का तहाँ रह गया। कोई चार वर्ष पूर्व यह काम मैंने नये सिरे से आरम्भ किया था; और उसका फल इस पुस्तक के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

कुछ दिन पहले एक साहित्यिक झगड़े के प्रसंग में स्थानीय दैनिक 'आज' में श्री 'बृहस्पति' का एक लेख निकला था। उसमें एक स्थल पर लिखा था—'इस समय हिन्दी बहुत उन्नत हो चुकने पर भी वैसी ही है, जैसे बिना एक मार्ग-दर्शक के, सिर पर बोझ लादे[1] कोई पथिक बियाबान में निरुद्देश्य चला जा रहा हो।' उन्होंने यह भी लिखा था—'छोटा हो, बड़ा हो, हिन्दी में सभी तीसमार खाँ हैं।' मैं समझता हूँ, ये दोनों बातें अक्षरशः सत्य हैं। मैं मार्ग-दर्शक बनने का तो दावा नहीं करता। पर हाँ, यह जरूर बतला देना चाहता हूँ कि भाषा के क्षेत्र में लोग क्यों, कहाँ और कैसे भटक रहे हैं।

आज-कल लोग सभी बातों में नयापन ढूंढ़ते हैं और अपनी कृतियों में कुछ-न-कुछ नयापन लाना चाहते हैं। उनमें वह प्रतिभा तो होती नहीं जो उद्भावनाओं की जननी है। हाँ, उनके मस्तिष्क पर अँगरेजी का घटाटोप अवश्य छाया रहता है। मैं कई ऐसे सज्जनों को जानता हूँ जो अँगरेजी लिखते समय तो भाषा की शुद्धता का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं, पर हिन्दी लिखते समय शुद्धता का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। अपनी भाषा की प्रकृति से वे लोग नितान्त अपरिचित होते हैं और हर बात में अँगरेजी का अनुकरण करते और उसी की शरण लेते हैं। यही कारण है कि

---

१. और वह भी दिन पर दिन बढ़ता हुआ। —लेखक।

आज-कल जटिल और निरर्थक भाषा लिखने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। न तो कोई यह सोचता है कि हमारी इस कु-प्रवृत्ति के कारण भाषा में कितना भद्दापन आता है और न कोई यह देखता है कि हम अर्थ और अभिप्राय से कितना हटते चले जाते हैं। लोगों को इस कु-मार्ग से बचाने के लिए ही यह तुच्छ प्रयत्न किया गया है।

आज-कल देश में हिन्दी का जितना अधिक मान है और उसके प्रति जन-साधारण का जितना अधिक अनुराग है, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारी भाषा सचमुच राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन होती जा रही है। लोग, गला फाड़कर चिल्लाते हैं कि राज-काज में, रेडियो में, देशी रियासतों में सब जगह हिन्दी का प्रचार होना चाहिए। पर वे कभी आँख उठाकर यह नहीं देखते कि हम स्वयं कैसी हिन्दी लिखते हैं। मैं ऐसे लोगों को बतलाना चाहता हूँ कि हमारी भाषा में उच्छृंखलता के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। किसी को हमारी भाषा का कलेवर विकृत करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। देश के अनेक ऐसे प्रान्तों में हिन्दी का जोरों से प्रचार हो रहा है, जहाँ की मातृभाषा हिन्दी नहीं है। अतः हिन्दी का स्वरूप निश्चित और स्थिर करने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व उत्तर भारत के हिन्दी लेखकों पर ही है। उन्हें यह सोचना चाहिए कि हमारी लिखी हुई भद्दी, अशुद्ध और बे-मुहावरे भाषा का अन्य प्रान्तवालोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा; और भाषा के क्षेत्र में हमारा यह पतन उन लोगों को कहाँ ले जाकर पटकेगा। इसी बात का ध्यान रखते हुए पूज्य पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी ने कुछ दिन पहले हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक और प्रचारक से कहा था—"आप अन्य प्रान्तों के निवासियों को हिन्दी तो पढ़ा रहे हैं और उन्हें अपना व्याकरण भी दे रहे हैं। पर जल्दी ही वह समय आवेगा, जब कि वही लोग आपके ही व्याकरण से आपकी भूलें दिखलावेंगे।" यह मानों भाषा की अशुद्धियोंवाले व्यापक तत्त्व की ओर गूढ़ संकेत था। जब एक बार हमारी समझ में यह तत्त्व अच्छी तरह आ जायगा, तब हम भाषा लिखने में बहुत ही सचेत होने लगेंगे। और मैं समझता हूँ कि हमारी भाषा की वास्तविक उन्नति का आरम्भ भी उसी दिन होगा।

मैंने वह समय देखा है जब कि भाषा पर स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त बहुत

ही कड़ी और तेज निगाह रखते थे। उनके बाद बहुत दिनों तक यह काम स्व० आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने अपने हाथ में ले रखा था। उन दिनों जल्दी किसी को उलूल-जलूल भाषा लिखने का साहस ही नहीं होता था। और यदि कोई नौ-सिखुआ कुछ लिख भी जाता था, तो उस पर कड़ी फटकार पड़ती थी। पर आज-कल भाषा के क्षेत्र में पूर्ण स्वराज्य है! पहले तो कोई कुछ कहनेवाला ही नहीं है। और यदि कभी कोई कुछ कहना भी चाहे तो आज-कल के स्वतन्त्र प्रकृतिवाले नवयुवक किसी की सुनते कब हैं! खूब मनमानी चल रही है। जिसके जी में जो कुछ आता है, वही वह लिख चलता है। और छापनेवाले भी आँखें बन्द करके छापते चलते हैं। इसी लिए हिन्दी-वालों के प्रति मेरा यह विद्रोह है। मैंने पहले दो-तीन बार कुछ अवसरों पर हिन्दीवालों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहा था। पर नक्कारखाने में तूती की आवाज नहीं सुनी गई। इसलिए इस बार मुझे विवश होकर अपने विचारों को इस पुस्तक का रूप देना पड़ा है। मैं हिन्दीवालों को इस बात के लिए विवश करना चाहता हूँ कि वे अपनी भूलें देखें और सुधारें। वे समझें कि जिस प्रकार—"आती है उर्दू जबाँ आते-आते।" उसी प्रकार हिन्दी भी लगातार प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने और सीखने पर ही, कुछ समय में, आती है। लेखक बनना 'खाला जी का घर' नहीं है। हर आदमी कलम हाथ में लेते ही लेखक नहीं बन सकता। मैं बहुत ही उत्सुकतापूर्वक हिन्दी के उन सौभाग्यपूर्ण दिनों की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब कि फिर कुछ योग्य और पूज्य विद्वान हाथ में अंकुश लेकर हिन्दीवालों का यह स्वेच्छाचार रोकने का प्रयत्न करेंगे। ईश्वर वे दिन शीघ्र लावे! परन्तु जब तक वे दिन नहीं आते, तब तक मैं ही अपने दुर्बल हाथों से उन्हें जगाने और सतर्क करने का प्रयत्न करता हूँ।

अन्त में मैं अपने इस प्रयत्न के विषय में भी कुछ निवेदन कर देना चाहता हूँ। इस पुस्तक में भूलों के जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे बहुत ही विस्तृत क्षेत्र से चुने गये हैं और मेरे अब तक के सम्पूर्ण संकलन के कदाचित् आधे भी नहीं हैं। लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी की अल्प सेवा करने में मुझे भाषा के संबंध में जिन बातों का थोड़ा-बहुत ज्ञान हुआ है, उन्हीं का निचोड़ इस पुस्तक में दिया गया है। सभी तरह के समाचारपत्रों, सामयिक-

पत्रों, पुस्तकों, भाषणों और बड़े-से-बड़े, प्रतिष्ठित और मान्य लेखकों तक की भाषा-सम्बन्धी भूलों के अनेक उदाहरण इसमें दिये गये हैं। वे सब उदाहरण आज-कल के भी हैं, दस-बीस बरस पहले के भी हैं और इस शताब्दी के पहले दशक के भी। हिन्दी का कलेवर कलुष से बचाने के लिए ही विशुद्ध हृदय से यह साहस किया गया है। मेरे कुछ मित्र यह चाहते थे कि मैं उदाहरणों के साथ पत्रों, पुस्तकों और लेखकों आदि के नाम भी दे दूँ। परन्तु किसी का उपहास करने या किसी को तुच्छ सिद्ध करने का स्वप्न में भी मेरा कभी विचार नहीं हुआ। अपना पांडित्य दिखलाना भी मेरा उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है केवल हिन्दी के स्वरूप की रक्षा—रक्षा ही नहीं, वह स्वरूप विशुद्ध और उज्वल करना। जब मैंने देखा कि हिन्दी के छोटे और बड़े, नये और पुराने सभी तरह के अधिकांश लेखक बिना किसी संकोच के भाषा का गला घोंट रहे हैं, तब मैं यह पुस्तक लिखने में प्रवृत्त हुआ। अतः कोई सज्जन भ्रम से यह न समझ बैठें कि मैंने उन पर किसी प्रकार का आक्षेप किया है अथवा उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। जिस विशुद्ध भाव से यह पुस्तक लिखी गई है, उसी विशुद्ध भाव से यह गृहीत भी होनी चाहिए। जो लोग इसे मेरी धृष्टता समझते हों, उनसे मैं इसी अवसर पर क्षमा भी माँग लेता हूँ।

मनमाने प्रयोग करनेवाले कुछ सज्जनों ने, इस पुस्तक की चर्चा छिड़ने पर, आक्षेप किया है कि मेरा यह प्रयत्न भाषा के मार्ग में रोड़े अटकानेवाला है—मैं उसके पैरों में बेड़ियाँ डालना चाहता हूँ, आदि। पर यह बात नहीं है। वस्तुतः यह पुस्तक भाषा का स्वरूप विशुद्ध, स्थिर और कमनीय करने के उद्देश्य से लिखा गई है। आज-कल जो हिन्दी चल रही है, उसमें बहुत कुछ परिमार्जन की आवश्यकता है; और जिस मार्ग पर वह चल रही है, वह बहुत ही भयावह है। हमें इसी समय सतर्क होना चाहिए।

जहाँ तक हो सका है, मैंने इस पुस्तक को व्याकरण के झगड़ों से बचाने का प्रयत्न किया है। उन्हीं अवसरों पर व्याकरण के नियमों का संकेत किया गया है, जिन अवसरों पर बिना ऐसा किये काम ही नहीं चल सकता था। प्रत्येक विषय अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस पुस्तक में आये हुए बहुत से विषय ऐसे हैं

जिनका पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध है ; और जिनका ठीक-ठीक वर्गीकरण बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि सारी सामग्री प्रस्तुत रहने पर भी मुझे यह छोटी-सी पुस्तक लिखने में तीन वर्ष लग गये। सभी प्रकरण दो-दो बार और कुछ प्रकरण तीन-तीन बार लिखने पड़े हैं। तिस पर नित्य मिलनेवाली नई-नई भूलें भी यथास्थान बढ़ाई गई हैं; और बहुत-सी बातें तो अगले संस्करण के लिए रख छोड़नी पड़ी हैं। फिर भी विषय-विन्यास की दृष्टि से मेरा पूरा-पूरा सन्तोष नहीं हुआ। इसके सिवा अभी मैं इसमें और भी एक-दो प्रकरण बढ़ाना चाहता था। आशा है, कि अगले संस्करण में वे प्रकरण भी आ जायँगे ; और इस पुस्तक में भी बहुत कुछ सुधार हो जायँगे।

भूलें सबसे होती हैं। सम्भव है, मुझसे भी इस पुस्तक में कुछ भूलें हुई हों। कुछ सिद्धांत स्थिर करने में मैं भूल कर सकता हूँ। दूसरों की भूलें सुधारने में भी कोई भूल हो सकती है अथवा और कई तरह की भूलों की सम्भावना है। परन्तु मेरा मूल उद्देश्य सद् है और मैं आशा करता हूँ कि विद्वान लेखक, पाठक और समालोचक मेरे उस उद्देश्य पर ही ध्यान रक्खेंगे। यदि वे इसमें कहीं सुधार या परिवर्तन आदि की आवश्यकता समझें तो कृपया मुझे सूचना दें। मैं सबके विचारों से समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करूँगा।

मेरी दृष्टि अब बहुत ही क्षीण हो चली है; इसलिए इस पुस्तक में प्रूफ सम्बन्धी बहुत-सी छोटी-मोटी भूलें रह गई हैं। उदाहरणार्थ पृ० ५६ पंक्ति १९ में 'भी' और 'वैमनस्य' के बीच में 'मिल ही जायँगे।' छपने से छूट गया है। पृ० १४४ पंक्ति ६ में 'पर' की जगह 'पद' छप गया है। इसी प्रकार की और भी भूलें हो सकती हैं। आशा है, उदार पाठक मेरी असमर्थता का ध्यान रखते हुए इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

अन्त में मैं अपने उन आदरणीय मित्रों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि के कुछ अथवा अधिक अंश पढ़कर मुझे उत्साहित किया है और अनेक उपयोगी परामर्श तथा सूचनाएँ दी हैं। इनमें श्रीयुक्त बा० सम्पूर्णानन्द जी, पं० बाबूराव जी पराड़कर, पं०

केशवप्रसाद जी मिश्र, डा० धीरेन्द्र वर्म्मा, श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, डा० वासुदेव शरणजी अग्रवाल, राय कृष्णदासजी, डा० मोतीचन्द चौधरी, पं० रामनारायण जी मिश्र और पं० वंशीधर जी विद्यालंकार मुख्य हैं। पराड़करजी का मैं इसलिए और भी अधिक अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इसके लिए प्रस्तावना भी लिखने की कृपा की है। यदि उक्त सब सज्जन मुझे उत्साहित न करते तो बहुत सम्भव था कि यह पुस्तक अभी और कुछ दिनों तक अँधेरे में ही पड़ी रहती—प्रकाश में न आती।

एक अन्तिम निवेदन और है। उन्नति के वर्तमान युग में हमारी भाषा और लिपि की भी बहुत बड़ी बड़ी आवश्यकताएँ हैं। इस पुस्तक के अन्तिम प्रकरण में उन आवश्यकताओं का भी कुछ निरूपण करने का प्रयत्न किया गया है। मैं बहुत ही नम्रतापूर्वक विद्वानों का ध्यान उन आवश्यकताओं की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। जहाँ साधारण हिन्दी लेखकों के लिए यह उचित है कि वे यह पुस्तक पढ़कर भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों से बचने का प्रयत्न करें, वहां विद्वान लेखकों का यह कर्त्तव्य है कि वे विचारणीय तथा चिन्तनीय विषयों का निराकरण करें और भाषा तथा लिपि की आवश्यकताओं पूर्त्ति की का पूरा पूरा प्रयत्न करें। यदि ये बातें हो जायँगी तो मेरा वह उद्देश्य भी सिद्ध हो जायगा, जिससे प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखी है।

काशी
प्रबोधिनी ११, सं० २००१ }

रामचंद्र वर्म्मा

प्रस्तावना



दैनिक पत्र का दीर्घ काल तक संपादन करने का सौभाग्य वा दुर्भाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे जानते हैं कि वर्त्तमान स्थिति में कम से कम भाषा की दृष्टि से पत्र को 'शुद्ध' बनाना भी कितना कठिन काम हो गया है। इसका मुख्य कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली है जिसमें प्राधान्य विदेशी साहित्य को और गौणत्व मातृ-भाषा के साहित्य को दिया जाता है। अपनी भाषा में अपने हृदय के भाव या विचार प्रकट करने की शिक्षा दी ही नहीं जाती। अँग्रेजी में ग्रामर वा ईडियम की भूल हो जाय तो वह अक्षम्य समझी जाती है। विद्यार्थियों को उपदेश दिया जाता है कि परस्पर अंग्रेजी में बातें करें जिसमें उस भाषा में अपने भाव शुद्धता- और सरलता-पूर्वक व्यक्त कर सकें। पर अपनी मातृ-भाषा में यही शक्ति वा योग्यता प्राप्त करना भारतीय विद्यार्थी के लिए अनावश्यक समझा जाता है। फिर हिंदी में सीखने का है ही क्या? जो हम बोलेंगे या लिखेंगे, वही हिंदी। अंग्रेज बालक के लिए पब्लिक स्कूलों और युनिवर्सिटियों में अँग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। उनके लिए यह नहीं कहा जाता कि अंग्रेजी उनकी भाषा है, उसमें सीखना ही क्या है; वह जो बोलेंगे या लिखेंगे, वही अंग्रेजी होगी। संभवतः यह उपेक्षा पराधीन जातियों की भाषाओं के लिए ही उचित समझी जाती है। हम पराधीन हैं, अतः प्रभु की इस उपेक्षा का भी स्वागत करते हैं; और वह भी बड़े अभिमान के साथ!

इस उपेक्षा के कारण भारत कैसा ठगा जा रहा है! युनिवर्सिटियों और उनके स्नातकों की संख्या बराबर बढ़ती ही जा रही है—साथ ही बेकारी भी। पर इन विद्यापीठों में ज्ञान का लेश भी देश को—देश की जनता को—नहीं मिल रहा है। खेती और खाद जैसे विषयों पर बड़े-बड़े ग्रंथ अंग्रेजी में लिखे और जनता के खर्च से छपवाये जा रहे हैं, पर उनका उपयोग जनता के लिए कुछ भी

नहीं। भारत की सरकार इंग्लैंड की भाषा में प्रति वर्ष उपयोगी पुस्तिकाएँ छपवाती है, उसकी सारी रिपोर्टें उसी भाषा में निकलती हैं, पर देश के लिए उनका उपयोग कुछ भी नहीं। 'अधिक अन्न उत्पन्न करो।' के विज्ञापन भी अंग्रेजी में बड़े-बड़े अक्षरों में छपवाकर शहरों में चपकाए जाते हैं। मानो हल लेकर खेत जोतनेवाला किसान अंग्रेजी जानता है और शहरों के महलों में रहता है! भारतीयों के धन से अंग्रेजी के ज्ञान-भंडार की जो यह पूर्त्ति अनवरत की जा रही है, उससे भी हमारा कुछ लाभ हो जाता, यदि सरकार ही उन पुस्तक-पुस्तिकाओं का उलथा हिंदी में कर देती। पर सरकार को इसकी परवा नहीं है। उसे तो दुनिया को दिखाना भर है कि हम इतना उद्योग कर रहे हैं। उसका उपयोग देश के लिए हो और भारतवासी अधिक सम्पन्न—धन-सम्पन्न भी और ज्ञान-सम्पन्न भी—हों, यह उसका उद्देश्य नहीं है। जनता तक ज्ञान पहुँचाना उसका काम नहीं है। युनिवर्सिटियाँ यह काम कर सकती हैं, पर उनका इधर ध्यान ही नहीं है। मातृ-भाषा द्वारा ज्ञान-दान करने के संकल्प से ही संस्थापित काशी हिंदू विश्वविद्यालय भी जब इस ओर से उदासीन है, तब दूसरे विश्वविद्यालयों के संबंध में क्या कहा जाय! उस्मानिया युनिवर्सिटी ने अबतक उर्दू के लिए क्या किया है और हिंदू युनिवर्सिटी ने हिंदी के लिए क्या किया है, इसकी तुलना कर देखने से ही मेरे इस क्षोभ की सार्थकता सिद्ध हो जायगी।

इधर स्कूलों में अन्य विषयों की शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा देने का नियम बनाया गया है। इसके लिए इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों की पुस्तकें भी हिंदी में तैयार हो गई हैं। पर उन पुस्तकों को पढ़ने का अवसर जिन्हें मिला है, वे यदि मातृ-भाषा के प्रेमी हों तो अवश्य ही हिंदी के भाग्य को रोते होंगे। क्या भाषा है! लेखकों को हिंदी व्याकरण का भी ज्ञान नहीं है, मुहावरों यानी वाक्सम्प्रदायों की तो बात ही जाने दीजिए। यह देखकर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हिंदी का शिक्षा विभाग में इस प्रकार प्रवेश पा जाना वस्तुतः वर है अथवा अभिशाप। पहले हमारे बालक मातृ-भाषा जानने ही नहीं पाते थे; अब जानने पाते हैं तो विकृत और भ्रष्ट रूप में! क्या अशुद्ध जानने की अपेक्षा न जानना ही अच्छा नहीं है? ऐसी दशा में हमारे नवीन लेखकों को न

मा-तृ-भाषा का पूरा ज्ञान होता है, न वे उसकी परम्परा से परिचित होते हैं और न शुद्ध सरल भाषा में अपने हृद्गत भाव प्रकट कर सकते हैं। इसमें उन वेचारों का दोष ही क्या है ?

भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में हिंदी विभाग स्वतंत्र रूप से स्थापित हैं। अवश्य ही उनमें हिंदी की शिक्षा दी जाती है और अच्छी दी जाती है। पर मेरे क्षोभ का कारण यह नहीं है। क्योंकि जनता में ज्ञान-प्रचार का काम, अपने ज्ञान से देश को लाभान्वित करके उसके ऋण से अंशतः उऋण होने का काम केवल हिंदी के स्नातकों को नहीं करना है, सब विषयों के स्नातकों को करना है। अतएव जब तक विश्वविद्यालयों के सब विभागों में हिंदी को उपयुक्त स्थान न मिलेगा, प्रत्येक स्तानक के लिए शुद्ध हिंदी में अपना भाव और ज्ञान प्रकट करने की योग्यता प्राप्त करना आवश्यक न होगा, तब तक इस शोचनीय अभाव की पूर्त्ति न होगी।

विद्यालयों और विद्यापीठों में हिंदी की उपेक्षा का यदि केवल अभावात्मक परिणाम ही हमें भोगना पड़ता तो भविष्य में उसकी पूर्त्ति की आशा करके हम आत्म-सांत्वना कर लेते। पर परिणाम 'दुर्भावात्मक' हो रहा है! भाषा बिगड़ रही है, साहित्य ओजहीन—प्राणहीन हो रहा है। उसके शब्दों और वाक्यों में जाति की प्रकृतिनहीं दिखाई देती। वह पर जाति के हृदय का—उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं के प्रकाशन का साधन हो रहा है। यह दोष हमारे नवीन लेखकों का नहीं, उनकी शिक्षा का है, जिसने उन्हें अपने आपको व्यक्त करने योग्य नहीं वनाया। उनमें ज्ञान है और ज्ञान-प्रचार की पवित्र भावना भी है, पर शब्द-सामर्थ्य नहीं है। उन वेचारों को मुरारि कवि के समान 'गुरुकुलक्लिष्ट'[१] होने का अवसर ही नहीं मिला। जव गुरुजनों ने ही यह कृपा नहीं की, तो अपने सारस्वत का सार वे कहाँ से पाते ?

एक समय था जब हम यह देख देखकर दुःखित होते थे कि अँग्रेजी के स्नातक अपनी मातृभाषा हिन्दी द्वारा देश और समाज की सेवा करने का यत्न ही नहीं करते। यह अवस्था प्रथम महायुद्ध के वाद से बिल्कुल बदल

---

१ देवीं वाचमुपासते हि बहवः सार तु सारस्वतम्।
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ॥

गई। बहुसंख्या में अंग्रेजीदाँ युवक मातृभाषा द्वारा देश-सेवा करने के लिए साहित्य-क्षेत्र में उतर पड़े। इसे हम हिन्दी का सौभाग्य समझते हैं। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। पर उन्हें विद्यार्थी अवस्था में मातृभाषा की अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी, अपनी भाषा में अपने विचार और भाव प्रकट करने की शक्ति का विकास नहीं हुआ था। फलतः ये जो लिखने लगे, उसके शब्द तो हिन्दी—कभी कभी वह भी अशुद्ध और अहिन्दी—पर वाक्य अंग्रेजी, मुहावरे अंग्रेजी, शैली अंग्रेजी होने लगी। जिसके जी में जो आया, वह वही लिखने लगा, और वही हिन्दी कहलाने लगी। 'अस्माकूनां नैयायिकेषां अर्थनितात्पर्यम् शब्दनिकोश्चिन्ता' वाली संस्कृत की उक्ति चरितार्थ होने लगी। यही नहीं, अर्थ का अनर्थ भी होने लगा। हिन्दी का कोई धनी-धोरी ही न रह गया। इस प्रवाह को ठीक मार्ग में ले जाने की शक्ति किसी में न रह गई। वार्धक्य और रोग के कारण पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की लेखनी शिथिल हो गई थी। और कोई वैसा प्रभावशाली लेखक न रह गया था जिसकी धाक लोगों पर जमती। राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक आदि बहुविध चर्चा होने लगी, पर भाषा बिलकुल भ्रष्ट। इसी समय दैनिक और साप्ताहिक पत्र, मासिक पत्रिकाएँ तथा भिन्न भिन्न विषयों की पुस्तकें अधिकाधिक संख्या में निकलने लगीं। पाठकों की संख्या बढ़ी, लेखकों की माँग बढ़ी। पर अच्छे लेखक मिलना कठिन हो गया। स्कूल-कॉलेजों से निकलने पर अपनी भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ लेखकों को लेकर बड़े बड़े दैनिक पत्र निकाले जाने लगे। रेल और डाक के समयों पर दृष्टि रखकर काम करना पड़ा। 'कॉपी' का संशोधन असम्भव। अंग्रेजी तारों का जैसा तैसा अनुवाद कराके छपवा दिया। बड़ी बड़ी और भद्दी गलतियों की ओर दूसरे दिन सहकारियों का ध्यान दिलाया। कुछ ने ग्रहण किया, कुछ न कर सके। जो एक भावना से प्रेरित होकर इस काम में आये, उन्होंने येन केन प्रकारेण अपनी भाषा कुछ सुधार ली, कुछ वस्तुतः अच्छे लेखक हो गये, और शेष वर्षों चक्की पीसकर भी ज्यों के त्यों रह गये। जीविकोपार्जन मात्र जिनका ध्येय था, वे भाषा न सुधार सके, प्रत्युत् अधिक वेतन मिलते ही दूसरे काम में चले गये। उनके स्थान पर फिर नये आये और पुरानी भूलें फिर नई हो गईं। आज तक प्रायः

यही दशा बनी है। आश्चर्य नहीं कि मेरे मित्र श्री रामचन्द्र वर्मा को सब प्रकार की अशुद्धियों के अनेक उदाहरण दैनिक पत्रों में मिल गये, और वह भी विशेषकर उन पत्रों में जिनसे मेरा सम्बन्ध रहा है। समाचार-पत्रों की इस त्रुटि का जितना खेद मुझे है, उससे अधिक और किसी को न होगा। शायद इसी लिए वर्मा जी ने अपनी इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने को मुझे बाध्य किया। इस अवस्था की भूमिका (ऐसी पुस्तक की आवश्यकता) तैयार करने में मेरा हाथ रहा है, अतः यह भी उचित ही है कि उसका स्वागत भी मैं करूँ और पाठकों को बताऊँ कि इस पुस्तक की इस समय क्या आवश्यकता है।

दैनिक पत्र का सम्पादन कार्य करते समय कई बार मेरे मन में आया कि नये लेखकों से प्रायः होनेवाली भूलों की एक सूची बनाकर उनसे बचे रहने की सलाह अपने सहकारियों को दूँ। कई सहकारियों ने भी अनेक बार इसके लिए मुझसे अनुरोध किया। पर जो काम टाला जा सके, उसे टालते रहने की अपनी प्रवृत्ति के कारण मैं अपनी इच्छा और भ्रातृ-तुल्य सहकारियों के अनुरोध की पूर्त्ति कभी न कर सका। कभी लिखने बैठा भी तो कार्य की विशालता और अपने ज्ञान की अल्पता देखकर विरत हो गया। जो स्वयं न कर सका, उसके लिए कभी कभी अपने साहित्यिक मित्रों से अनुरोध करता रहा। इनमें ही वर्मा जी हैं। मेरे कहने के पहले से ही आप यह काम करने की ठान चुके थे और अपने स्वाभाविक अध्यवसाय से मसाला जमा कर रहे थे।

'अच्छी हिन्दी' न व्याकरण है, न रचना-पद्धति। वह साहित्य की शिक्षा नहीं देती, लेखन-कला भी नहीं सिखाती। कैसे लिखना चाहिए, यह वह नहीं बताती। वह केवल उन गड्ढों को दिखा देती है जो नवीन लेखकों के मार्ग में प्रायः पड़ते हैं, और जिनसे उन्हें बचना चाहिए। अर्थात् वर्मा जी ने वह भूलें दिखा दी हैं जो नये और पुराने, पर असावधान लेखक प्रायः करते दिखाई देते हैं। इन भूलों का विश्लेषण करके आपने इन्हें भिन्न भिन्न वर्गों में बाँट दिया है। जैसे—'उत्तम रचना' 'अर्थ, भाव और ध्वनि,' 'शब्द-प्रयोग,' 'वाक्य-विन्यास,' 'क्रियाएँ और मुहावरे,' 'लिंग और वचन,' 'छाया-कलुषित भाषा,' 'समाचार-पत्रों की हिन्दी,' 'अनुवाद की भूलें,' 'फुटकर बातें,' और

'हमारी आवश्यकताएँ' इन शीर्षकों से ही विषय का ज्ञान होता है। 'भाषा की परिभाषा' विषय-प्रवेश है। 'अर्थ, भाव और ध्वनि' का अध्ययन उन लोगों को अवश्य करना चाहिए जो लेखन-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। यह साहित्य शास्त्र का 'प्रवेश' मात्र है। मेरा खयाल है कि जो लोग हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे हों, वे इस पुस्तक से और विशेष कर इस प्रकरण से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। उन्हें साहित्याध्ययन में इससे अच्छी सहायता मिलेगी। जो कॉलेज वा युनिवर्सिटी में 'हिन्दी' लेकर या लिये बिना ही संयोगवश हिन्दी के लेखन-क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं, उनके लिए तो यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। यदि ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन किया जाय तो बहुत सी ज्ञात और अज्ञात कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

मैं अपने पत्रकार युवकों से प्रार्थना करूँगा कि वे शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास, क्रियाएँ और मुहावरे, लिंग और वचन तथा समाचार-पत्रों की भाषा, शीर्षक प्रकरण ध्यान-पूर्वक पढ़ें। प्रदान, उत्तीर्ण, निर्माण, निर्माता, स्थापित, प्रयोग, खेद, दुःख, शोक, घोर, गम्भीर, भीषण, विकट, उग्र, भयानक, प्रश्न, सहित, द्वारा, अन्दर आदि नित्य व्यवहार के शब्दों और विभक्ति-प्रत्ययों के ठीक प्रयोग तथा नित्य कैसी हास्य-जनक भूलें होती हैं, इसका बहुतों को तो ज्ञान भी नहीं होता। कर्मणि 'को' कहाँ होता है और कहाँ नहीं, इसका ज्ञान बहुत थोड़ों को होता है। हम बोल-चाल में कभी नहीं कहते 'उसने मकान को गिराया'; पर लिखते समव ऐसा ही हास्य-जनक प्रयोग प्रायः किया करते हैं। यही स्थिति वाक्य-विन्यास की है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वर्मा जी ने अशुद्धियों का कोई उदाहरण गढ़कर नहीं दिया है। अधिकांश समाचार-पत्रों और शेष पुस्तकों से लिये गये हैं। वस्तुतः हमारे वाक्य 'हमारे' नहीं होते। वे अंग्रेजी के होते हैं, केवल शब्द हमारे। जो अंग्रेजी नहीं जानते, उनके लिए इन्हें समझना कठिन होता है। कुछ वाक्य तो ऐसे होते हैं कि उनके हिन्दी शब्दों के स्थान पर अंग्रेजी शब्द रखे बिना अंग्रेजी जाननेवाले भी उन्हें नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ एक ही वाक्य लीजिए—'गाँवों तक समझे जाने-वाले साहित्य से हम उच्चता वसूल करने की जिद छोड़ कर सम्पर्क स्थापित करें।' इसका अर्थ क्या है? लेखक क्या करने का उपदेश दे रहा है? यत्न

करने पर भी मैं तो अभी तक समझ नहीं पाया हूँ। 'उच्चता वसूल करना' कौन कला है ? उसकी जिद कैसे छोड़ें और 'सम्पर्क' किस से स्थापित करें ? 'हम क्यों आँख मूँदते हैं कि अंग्रेजी इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है ?' क्या लेखक का कहना है कि ऐसी हिन्दी, जो आँख मूँदकर लिखी गई हो, इस देश की साधारण भाषा बनाई जा सकती है ? अथवा क्या लेखक, इस बात पर खेद प्रकट कर रहा है कि 'अंग्रेजी' इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है ? इसे हम देखकर भी क्यों नहीं देखते ? यदि ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता रहा तो 'तब के बाद हिन्दी बहुत आगे बढ़ी कही मानी जायगी' या नहीं, इसमें सन्देह ही है। सारांश, इस प्रकार की भूलें हम नित्य कर रहे हैं, ऐसी भूलें जिन पर यदि हम स्वयं ही विचार करें तो हम बिना लज्जित हुए नहीं रह सकते। नवीन लेखकों को इनसे बचने का यत्न करना चाहिए; और इस काम में इस पुस्तक से बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है।

'क्रियाएँ और मुहावरे' वाला प्रकरण मेरे मत से सब से अधिक महत्व का है। क्रियाओं के प्रयोग में अच्छे अच्छे लेखक भी भूल कर जाते हैं, कुछ अभ्यासवश, कुछ असावधानता के कारण और कुछ शीघ्र 'कॉपी' तैयार करने के फेर में। परन्तु यदि हमें हिन्दी का साहित्य बढ़ाना है, उसे पुष्ट और भाव-व्यंजक बनाना है तो इस ओर ध्यान देना ही पड़ेगा। यह विषय इतना व्यापक है कि इस पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। आशा है, कोई विद्वान् इधर ध्यान देंगे; अथवा काशी नागरी-प्रचारिणी सभा या हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ही यह कार्य अपने हाथ में लेगा। तब तक इस पुस्तक के इस प्रकरण से नवीन लेखकों को अवश्य लाभ उठाना चाहिए। जो शुद्ध हिन्दी लिखना चाहते हैं, उनसे मेरा अनुरोध है कि किस शब्द के साथ कौन सी क्रिया होनी चाहिए, यह जानने के लिए हिन्दी शब्द सागर से सहायता लिया करें। वैसे ही मन, हाथ, मुँह, आँख जैसे साधारण शब्दों और उनसे बने मुहावरों का अध्ययन भी उसी पुस्तक से करें। उसे केवल 'कोष' न समझकर अध्ययन की पुस्तक समझना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका परिश्रम विफल न होगा। मैं अभी तक ऐसा करता हूँ। मेरा नियम है कि

लिखते समय यदि शब्द या मुहावरे के संबंध में कोई सन्देह हो जाता है तो उस समय उसका प्रयोग नहीं करता, अन्य शब्द से काम चला लेता हूँ। बाद जब शब्दसागर देखकर अथवा किसी विद्वान् मित्र या सहयोगी से पूछकर शंका-निवृत्ति कर लेता हूँ, तब उसका प्रयोग करता हूँ। यहाँ एक बात और बता देना चाहता हूँ। एक ही शब्द का भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न अर्थ होता है। इससे मेरे जैसे अन्य-भाषा-भाषी लेखक से बड़ी बड़ी भूलें हो जाया करती हैं। लेखक-जीवन के प्रारम्भिक काल में मुझसे ऐसी कई भूलें हुईं जिनके लिए मुझे लज्जित होना पड़ा था। (अब भी असावधानता में हो जाती हैं।) तब मैंने अपने लिए यह नियम बना लिया था कि लिखते लिखते यदि मुझे मालूम होता कि जो शब्द मैं लिखने जा रहा हूँ, वह मराठी में भी आता है, तो उस समय मैं उसका प्रयोग नहीं करता था। पीछे कोष देखकर या गुरुजनों से पूछकर यह जानने का यत्न करता था कि उसका हिन्दी में किस अर्थ में और मराठी में किस अर्थ में प्रयोग होता है। इसकी पूरी जानकारी हो जाने के बाद ही मैं उसका हिन्दी में प्रयोग करता था। अपने अहिन्दी-भाषी मित्रों से मैं इस नियम का अनुसरण करने का अनुरोध करूँगा।

दो शब्द 'हिन्दी की प्रकृति' के सम्बन्ध में लिखकर मैं यह प्रस्तावना समाप्त करूँगा। भाषा की कोई प्रकृति होती है, इसका अनुभव प्रत्येक सुलेखक को है। हम अनुभव करते हैं कि एक शब्द बँगला, मराठी या गुजराती में अच्छा लगता है, पर हिन्दी में खटकता है। इसका कारण यही है कि वह हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। यही बात वाक्य-विन्यास के सम्बन्ध में भी है। इस प्रकार हमें इस प्रकृति का परिचय नित्य मिला करता है, पर हम उसे पहचान नहीं सकते—जानकर भी नहीं समझते। इसकी व्याख्या करना उतना ही कठिन है, जितना आत्मा की। मेरा विचार था और वर्मा जी की भी इच्छा थी कि मैं इस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ पुस्तक के अन्त में लिख दूँ। पर दुर्भाग्यवश मुझे समय नहीं मिला, न विचार करने को शान्ति। इसके लिए मैं वर्मा जी से क्षमा-याचना करता हूँ। यदि अवसर मिला तो अगले संस्करण में आत्म-संतोष प्राप्त करने का यत्न करूँगा। एक और बात

के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। कुछ आलस्य और कुछ दुर्भाग्यवश यह प्रस्तावना लिखने में बहुत देर हो गई। लगभग दो महीने तक पुस्तक छपी पड़ी रही। वर्मा जी तगादा करते करते और मैं मुँह छिपाते छिपाते थक गया। इसे प्रकाश्य रूप से स्वीकार करना ही इसका प्रायश्चित्त है।

काशी
सौर १८ मार्गशीर्ष, २००१ वि०

बा० वि० पराड़कर

प्रकरण-सूची

❀ श्रीः ❀

अच्छी हिन्दी

१

भाषा की परिभाषा

भाषा वह साधन है, जिससे हम अपने मन के भाव दूसरों पर प्रकट करते हैं। इसके अन्तर्गत वे शब्द भी हैं जो हम मुँह से बोलते हैं; और उन शब्दों का वह क्रम भी है, जो हम लगाते हैं। हमारे मन में समय समय पर विचार, भाव, इच्छाएँ आदि उत्पन्न होती हैं और हमें कुछ अनुभूतियाँ होती रहती हैं। वही सब हम अपनी भाषा के द्वारा, चाहे बोलकर और चाहे लिखकर और चाहे किसी संकेत से, दूसरों पर प्रकट करते हैं। कभी कभी हम अपने मुख की आकृति कुछ विशेष प्रकार की बनाकर या संकेत आदि से अपने विचार और भाव किसी सीमा तक प्रकट करते हैं, पर भाव प्रकट करने के ये सब प्रकार—विशुद्ध कला के क्षेत्र के बाहर—उतने स्पष्ट नहीं हैं। कारण यह है कि ये सब प्रकार हमारे विचार प्रकट करने में उतने अधिक सहायक नहीं होते, जितनी भाषा होती है। मन के सभी भाव प्रकट करने का सबसे अच्छा और सुगम साधन भाषा ही है।

पशु-पक्षियों आदि में भी राग, द्वेष, प्रेम और क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं। अपने ये भाव वे अपनी आकृति और ऐसे शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं, जिन्हें हम चीत्कार कह सकते हैं। परन्तु भाव प्रकट करने की उनकी यह शक्ति बहुत ही परिमित होती है। बहुत-से पशु-पक्षी प्रसन्न रहने की अवस्था में एक प्रकार के शब्द करते हैं, और क्रुद्ध या खिन्न होने की अवस्था में अन्य प्रकार के। परन्तु उनके वे शब्द उतने अधिक स्पष्ट और व्यंजक

नहीं होते, जितने अधिक स्पष्ट और व्यंजक हमारे शब्द होते हैं। हमारी वाक्-शक्ति का कार्य-क्षेत्र पशु-पक्षियों की वाक्-शक्ति के कार्य-क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है। इस विषय में भी हम पशु-पक्षियों से उतने ही आगे बढ़े हुए हैं, जितने बुद्धि या विवेक आदि में। बुद्धि और विवेक की तरह भाषा भी हमारे लिए ईश्वर की सबसे बड़ी देन है। इन्हीं सबके प्रसाद से हम जीव-जगत् में सबसे अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन-यात्रा में हमारे शरीर-रूपी रथ के यही पहिये हैं।

परन्तु भ्रमवश हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारी वर्त्तमान बुद्धि और भाषा हमें सृष्टि के आरम्भ से ही इन्हीं रूपों में मिली हैं और हम सदा से इसी तरह सोचते-समझते और बोलते-चालते चले आये हैं। जिस प्रकार इस संसार की और सब चीजों का धीरे-धीरे विकास हुआ है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि और भाषा का भी। मानवी जीवन की नितान्त आरम्भिक अवस्था में मनुष्य की बुद्धि और भाषा दोनों ही बहुत परिमित थीं, बल्कि यों कहना चाहिए कि नहीं के समान थीं। बिलकुल निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य आरम्भ में भाषा और बुद्धि के किस स्तर पर था, पर इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह स्तर बहुत ही निम्न कोटि का था। बहुत सम्भव है कि उस समय हम लोगों की अवस्था उस अवस्था से मिलती-जुलती रही हो, जिसमें हमें आज-कल गोरिल्ले और चिम्पैनजी आदि बानर दिखाई देते हैं। पर यहाँ इस विषय के विवेचन का कोई विशेष उपयोग नहीं है। यहाँ तो हमारे लिए यही समझ लेना यथेष्ट है कि बुद्धि और भाषा दोनों के विचार से हम बहुत ही नीचे तल से धीरे-धीरे उठते हुए हजारों-लाखों बरसों में इस अवस्था तक पहुँचे हैं।

आरम्भ में मनुष्यों की बुद्धि अल्प और शब्द-भांडार बहुत ही परिमित था। ज्यों ज्यों मनुष्यों के बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि विकास होते गये, त्यों त्यों हमारा शब्द-भांडार भी बढ़ता गया और भाव तथा विचार प्रकट करने के सूक्ष्म भेद-प्रभेद भी उत्पन्न होते गये। ज्यों ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, हमें नई नई वस्तुओं का ज्ञान होता गया और नये नये देशों तथा जातियों के साथ हमारा सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों त्यों हमारे

शब्द भी बढ़ने लगे और कथन के प्रकार भी। नये नये शिल्पों और ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार तथा नये नये स्थानों और लोगों के साथ होनेवाले परिचय तथा इसी प्रकार की और सैकड़ों-हजारों बातें हमारी भाषा की उन्नति करती गईं। संक्षेप में यही वह क्रम है जिससे सभ्य मनुष्यों की भाषा अपने वर्तमान उन्नत स्वरूप तक पहुँची है।

भाषा बहुत-से शब्दों से बनती है और उन शब्दों के कुछ अर्थ होते हैं। निरर्थक शब्दों के लिए भाषा में कोई स्थान नहीं होता। शब्द का अर्थ और कहीं नहीं, स्वयं हमारे मन में होता है। उदाहरण के लिए सीधा-सीदा 'पास' शब्द लीजिए। हम हिन्दीवाले इसका अर्थ 'निकट', 'समीप' या 'नजदीक' समझते हैं। पुरानी हिन्दी में इसका अर्थ 'ओर' या 'तरफ' होता था। अब वह 'अधिकार' या 'कब्जे में' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु भारत के समीपवर्त्ती फारस देश की फारसी भाषा में इसी शब्द का अर्थ होता है—(क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा-चौकी आदि। अँगरेजी में इसके अर्थ होते हैं—(क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या घाटी और (ग) गुजरना या बीतना आदि। संसार की अन्यान्य भाषाओं में इसके न जाने और क्या क्या अर्थ होते होंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं 'पास' शब्द में कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जिससे उसका कोई विशेष अर्थ सूचित हो। अलग अलग देशों के निवासियों ने इसके अलग अलग अर्थ मान रखे हैं। हम एक भाव या पदार्थ का बोध कराने के लिए जिस शब्द का प्रयोग करते हैं, संभव है, और देशों के लोग उस शब्द का प्रयोग कोई दूसरा भाव या पदार्थ सूचित करने के लिए करते हों। अतः शब्द संकेत मात्र है और उसका अर्थ हमारे मन में ही होता है।

भिन्न भिन्न भाषाओं में एक ही शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ तो होते ही हैं, एक ही भाषा में एक ही शब्द के अनेक अर्थ भी होते हैं। सभी उन्नत भाषाओं में ऐसे सैकड़ों-हजारों शब्द होते हैं, जिनके दो-चार ही नहीं, दस-बीस तक अर्थ होते हैं। सीधा-सादा 'काटना' शब्द लीजिए। हम लकड़ी, तनखाह, बात और समय तो काटते ही हैं, पर चालाकी में न जाने कितनों के कान भी काटते हैं! इन सभी प्रयोगों में 'काटना' के अलग अलग अर्थ हैं। तात्पर्य यह कि

हम कुछ शब्दों के कुछ विशिष्ट अर्थ निश्चित कर लेते हैं; और तब आवश्यकता के अनुसार कुछ शब्दों के अर्थों का विस्तार भी करते हैं। हम जिन शब्दों का कोई अर्थ स्थिर नहीं करते, उन्हें निरर्थक मान लेते हैं। जैसे पिंग, चुंग, कांग आदि। पर चीन और जापान में इन्हीं के न जाने क्या क्या अर्थ होंगे।

अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए हम सार्थक शब्दों का प्रयोग दो प्रकार से करते हैं—एक तो बोलकर और दूसरे लिखकर। बोले हुए शब्द सुनकर और लिखे हुए शब्द पढ़कर उनका भाव या अर्थ समझा जाता है। लिखने और पढ़ने की अपेक्षा हम बोलते और सुनते ही अधिक हैं। सीखते भी हम पहले बोलना और सुनना ही हैं। लिखने और पढ़ने की बारी तो बहुत बाद में आती है। यह बात हमारे व्यक्तिगत जीवन में भी और समाज के इतिहास में भी समान रूप से ठीक है।

हम प्रायः कुछ न कुछ सोचते या कुछ न कुछ करते रहते हैं। फिर हम जो कुछ सोचते या करते हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ कहते-सुनते भी रहते हैं। हम अपना अभिप्राय दूसरों पर स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहते हैं और दूसरों का आशय ठीक तरह से समझना भी चाहते हैं। पर कभी कभी ऐसा होता है कि हमें अपनी बात समझाने या दूसरों की बात समझने में उतनी सफलता नहीं होती, जितनी होनी चाहिए। इसके कई कारण हैं। जैसे—शब्दों की कमी, भाव व्यक्त करने की ठीक जानकारी का अभाव, शब्दों का ठीक ठीक आशय न समझकर उनका बे-ठिकाने प्रयोग, आदि। हम छोटी अवस्था में पढ़-लिखकर बहुत-से शब्द सीख तो लेते हैं, और व्याकरण का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु हम प्रायः देखते हैं कि हमारा वह ज्ञान हमारे नित्य-प्रति के व्यवहार में अधिक सहायक नहीं होता। कभी हम बोलने में गलतियाँ कर जाते हैं, कभी लिखने में और कभी दूसरों के भाव समझने में। यदि ऐसे अवसरों पर थोड़ा विचार किया जाय, तो हम अच्छी तरह समझ सकते हैं कि भाषा की दृष्टि से हमारा लिखने-पढ़ने का जो उद्देश्य था, वह ठीक तरह से पूरा नहीं हुआ। साधारण शिक्षा का हमारे लिए कम से कम इतना उपयोग तो होना ही चाहिए कि हम अपनी बातें ठीक तरह से दूसरों को समझा सकें और

उनकी बातें उसी तरह समझ सकें। और इसके लिए भाषा पर अधिकार होना चाहिए।

हम भाषा के द्वारा दूसरों पर अपनी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ, दुःख या प्रसन्नता, क्रोध या सन्तोष प्रकट करते हैं और इस प्रकार के और भी बहुत-से काम करते हैं। कभी हमें अपना काम निकालने के लिए दूसरों से अनुनय-विनय या प्रार्थना करनी पड़ती है, कभी किसी को उत्साहित या उत्तेजित करना होता है, कभी लोगों से आग्रह करना पड़ता है और कभी उन्हें अपने अनुकूल बनाना होता है। कभी हमें लोगों को शान्त करने के लिए समझाना-बुझाना पड़ता है और कभी किसी से लड़ने के लिए तैयार करना पड़ता है। कभी लोगों को अपने वश में करना पड़ता है और कभी उन्हें किसी के प्रति विद्रोह करने के लिए उभारना पड़ता है। भाषा से निकलनेवाले इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य होते और हो सकते हैं। परन्तु ये सब कार्य ठीक तरह से तभी हो सकते हैं, जब भाषा पर हमारा पूरा पूरा अधिकार हो।

भाषा से बहुत बड़े-बड़े काम होते हैं; पर हाँ, भाषा उन बड़े कामों के लिए उपयुक्त होनी चाहिए। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिनमें केवल भाषा या भाषण के द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम कर दिखलाये गये हों या दूसरों से करा लिये गये हों। बड़े-बड़े युद्ध और बड़े-बड़े विद्रोह बहुत बड़ी सीमा तक प्रायः भाषा के बल पर ही छिड़ते हैं। बड़े-बड़े उत्थान और बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ प्रायः भाषा के सहारे ही होती हैं। भाषा ही लोगों को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाती है और पाप से विमुख करा के पुण्य-कार्यों में लगाती है। भाषा की शक्ति अपरिमित और अमोघ है। अतः जो जो लोग बड़े बनना चाहते हों, या बड़े काम करना चाहते हों, उन्हें सबसे पहले अपनी भाषा की ओर ध्यान देना चाहिए।

भाषा शक्ति है और बहुत बड़ी शक्ति है। सभी शक्तियों की भाँति इसका भी सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं और सदा से होते आये हैं। विचारवान् और सदाशय इसका सदुपयोग करते हैं और तुच्छ तथा नीच दुरुपयोग। यही नहीं, इससे भी बढ़कर एक और विलक्षण बात है। जिस भाषा की सृष्टि वस्तुतः अपने मन के भाव प्रकट

करने के लिए हुई है, उसी भाषा का उपयोग कुछ लोग अपने मन के भाव छिपाकर दूसरों को ठगने, धोखा देने, भटकाने या भ्रम उत्पन्न करने के लिए भी करते हैं! आज-कल के पाश्चात्य राजनीतिज्ञों के सम्बन्ध में तो यह बात प्रसिद्ध-सी हो रही है कि वे भाषा का उपयोग अपने मन के भाव प्रकट करने की अपेक्षा अधिकतर उन्हें छिपाने के लिए ही करते हैं! यह है तो इस महान् तथा सर्व-श्रेष्ठ शक्ति का दुरुपयोग ही; पर इसे भी हम इसकी शक्तिमत्ता का एक प्रबल प्रमाण ही मानेंगे।

जो हो, अच्छी भाषा लोगों पर हमारी योग्यता प्रकट करती है, समाज में हमारा सम्मान बढ़ाती है और हमारे बहुत-से कठिन काम सहज में पूरे कराती है। दूसरों की भद्दी, अशुद्ध या बे-मुहावरे भाषा सुनकर हम अपने मन में हँसते हैं और उन्हें मूर्ख समझते हैं। चाहे उस समय हम किसी कारण से चुप ही क्यों न रहें, पर अशुद्ध या भद्दी भाषा बोलने या लिखनेवाले के प्रति हमारी श्रद्धा अवश्य ही बहुत कम हो जाती है। हम समझ लेते हैं कि इन्हें बोलना या लिखना तक नहीं आता। यदि कोई आदरणीय व्यक्ति भी कोई बहुत अच्छी बात, पर भद्दी या अशुद्ध भाषा में कहे, तो हमपर उसका यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। उसके सम्बन्ध में हमारे मन में एक तरह की खटक रह ही जाती है। इसके विपरीत यदि कोई साधारण व्यक्ति भी सामान्य-सी ही बात कहे, परन्तु कहे अच्छी और प्रसादपूर्ण भाषा में, तो वह बात तुरन्त हमारे मन में बैठ जाती है और हम अनजान में ही उसका कुछ विशेष आदर करने लगते हैं। यही होता है बुरी और अच्छी भाषा का प्रभाव।

मनुष्य भूलों और दोषों से तो बचना चाहता ही है; वह स्वभावतः सौन्दर्य-प्रिय भी होता है। वह संसार की सभी वस्तुओं को सुन्दर रूप में रखना और देखना चाहता है। जिन कलाकारों में सौन्दर्य की अनुभूति और भावना बहुत बढ़ी हुई होती है, वे कुरूप वस्तुओं में भी कुछ न कुछ सौन्दर्य ढूँढ़ निकालते हैं। परन्तु साधारण लोग भी, जिनमें कला का उतना अधिक प्रेम या ज्ञान नहीं होता, सौन्दर्य की थोड़ी-बहुत परख जरूर रखते हैं। सुन्दर और अ-सुन्दर चीजें देखने का तो हमें उतना अवसर नहीं मिलता, परन्तु अच्छी और भद्दी भाषाएँ सुनने का प्रायः नित्य अवसर मिलता रहता

है। जिन लोगों को सौन्दर्य की परख अधिक होती है, उन्हें भद्दापन भी अधिक खटकता है। यही कारण है कि कभी कभी छोटे बच्चे भी बड़ों की भूलों और विशेषतः भाषा सम्बन्धी भूलों पर हँसते और उन्हें टोकते हुए दिखाई देते हैं।

हम जिस प्रकार अपनी और कृतियों को सुन्दर बनाना चाहते हैं, उसी प्रकार अपनी भाषा में भी सौन्दर्य लाना चाहते हैं। भाषा को सुन्दर बनाने में कई बातें विशेष रूप से सहायक होती हैं। उनमें सबसे पहली बात है—बहुत-से शब्दों और उनके ठीक ठीक अर्थों का ज्ञान। इस सम्बन्ध में एक साधारण सिद्धांत यह है कि जिस भाषा या बोली में शब्दों का भण्डार जितना ही कम होगा, उसमें भूलें होने या भद्दापन आने की उतनी ही कम गुंजाइश होगी। अब यह बात दूसरी है कि थोड़े शब्दोंवाली भाषा या बोली में उतने अधिक भाव न व्यक्त किये जा सकते हों, जितने किसी शब्द-सम्पन्न भाषा या बोली में किये जा सकते हैं। असभ्य और जंगली जातियों की बोली प्रायः ऐसी ही होती है। उसमें शब्द भी कम होते हैं और अशुद्धियों के लिए अवकाश भी कम रहता है। थोड़े-से विशेषण, थोड़ी-सी संज्ञाएँ और थोड़ी-सी क्रियाएँ भाषा के नियम-भंग के लिए अधिक स्थान ही नहीं छोड़तीं। परन्तु सभ्य, शिक्षित और उन्नत समाजों की भाषाओं में यह बात नहीं होती। उनका शब्द-भांडार बहुत बड़ा होता है और उस शब्द-भांडार से भी कहीं अधिक बड़ा होता है उनका कार्य-क्षेत्र। ऐसी अवस्था में मनोगत भाव व्यक्त करने की प्रणालियाँ भी बहुत बढ़ जाती हैं और वर्ण्य या कथ्य विषयों की संख्या भी। ऐसी परिस्थितियों में भाषा-सम्बन्धी भूलों के लिए भी बहुत-सा अवकाश निकल आता है।

भाषा में होनेवाली इसी प्रकार की भूलों के लिए अवकाश कम करने के उद्देश्य से सबसे पहले कुछ समझदारों के मन में व्याकरण की रचना का विचार उत्पन्न हुआ होगा। व्याकरण का मुख्य काम भाषा के नियम ढूँढ़-कर उन्हें स्थिर और क्रमबद्ध करना होता है। सब भाषाओं में उनके व्याकरण यही काम करते हैं; और इसी लिए भाषा-सम्बन्धी शिक्षा में व्याकरण का भी एक मुख्य स्थान होता है। परन्तु भाषा जब तक सजीव रहती है और बराबर उन्नति करती चलती है, तब तक बेचारा निर्जीव व्याकरण दौड़ में उसका साथ नहीं दे सकता। जो समाज बराबर उन्नति करता और आगे बढ़ता

रहता है, उसकी भाषा भी बराबर उसके साथ आगे आगे दौड़ती चलती है ; और व्याकरण उसके पीछे-पीछे लँगड़ाता और घसिटता हुआ चलता है। जब भाषा बहुत कुछ आगे बढ़ चुकती है, तब वैयाकरण अपना व्यायरण भी उसके पास तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। यह व्याकरण वह दूसरा तत्व है, जो भाषा को सुन्दर बनाने में सहायक होता है।

भाषा का सौन्दर्य बढ़ाने में तीसरा और सब से बड़ा सहायक है—भाषा पर अधिकार। यह अधिकार न तो शब्द-भांडार की विपुलता पर ही आश्रित होता है और न व्याकरण के ज्ञान पर ही निर्भर रहता है। इसका आश्रय या आधार तो स्वयं व्यक्ति होता है। शब्दों का बहुत बड़ा भांडार हमें कोशों में मिल सकता है और व्याकरण के बहुत-से नियम वैयाकरण हमारे सामने रख देते हैं। परन्तु सारे कोश और सारे व्याकरण रट डालने पर भी हमारी भाषा अच्छी, मुहावरेदार और शुद्ध नहीं हो सकती—उसमें जान नहीं आ सकती। हम एक ऐसे विद्वान् सज्जन को जानते हैं, जिन्हें बहुत अधिक शब्दों और कई विकट भाषाओं के व्याकरणों का अच्छा ज्ञान था, पर फिर भी जिनके बोलने और लिखने में अशुद्धियों की भर-मार हुआ करती थी। अशुद्धियों की बात तो जाने दीजिए, बहुत से लोगों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से परम शुद्ध होने पर भी नितान्त नीरस और निर्जीव होती है। और किसी ऐसे व्यक्ति की भाषा भी परम सरस और सजीव हो सकती है, जिसने व्याकरण का कभी नाम भी न सुना हो। व्याकरण सम्बन्धी नियमों का ज्ञान और बात है; भाषा पर अधिकार होना और बात है। भाषा पर होनेवाले इसी अधिकार को उर्दू-वाले 'जबानदानी' कहते हैं।

अच्छी गढ़न और ठीक सजावट से ही कोई चीज सुन्दर हो सकती है ; और ये दोनों बातें अच्छी रुचि से ही पैदा होती हैं। यों तो रुचि बहुत कुछ स्वाभाविक ही होती है ; फिर भी वह संस्कृत और परिमार्जित की जा सकती है। रुचि की बहुत कुछ अभिवृद्धि भी हो सकती है और एक बहुत बड़ी सीमा तक वह अर्जित भी की जा सकती है। प्रश्न रह जाता है केवल प्रयत्न का। अब यह बतलाने के लिए किसी विशेष तर्क की आवश्यकता न होगी कि जो व्यक्ति जिस विषय में जितना ही अधिक प्रयत्न करता है, वह

उस विषय में यदि उतना ही नहीं तो भी बहुत कुछ सौन्दर्य और सरसता अवश्य ला सकता है। अतः यदि हम अपनी भाषा को निर्दोष, सुन्दर, ओजपूर्ण, प्रसाद-युक्त और प्रभावशालिनी बनाने का ठीक तरह से प्रयत्न करें तो हमें सहज में बहुत कुछ सफलता हो सकती है। इसमें आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि छोटी-छोटी बातों पर भी जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय। जहाँ एक बार आप इस मार्ग पर चल पड़े, वहाँ बाकी काम बहुत-कुछ आप-से-आप होने लगते हैं।

यदि आप स्वयं अपनी भाषा पर भी और दूसरों की भाषा पर भी आज से ही ध्यान देना आरम्भ कर दें तो बहुत सम्भव है कि एकाध महीने के अन्दर ही भाषा को सुन्दर और शुद्ध बनानेवाले बहुत-से तत्त्व आपसे-आप आपके सामने आने लग जायँ। फिर साल दो साल के प्रयत्न और परिश्रम का तो कहना ही क्या है! पर यदि आप उन्हीं छोटी-से-छोटी बातों को तुच्छ समझकर छोड़ते चलने के अभ्यस्त हो जायँगे, तो फिर आपकी भाषा में बराबर कुछ न कुछ दोष बढ़ते ही चले जायँगे।

हमें स्वयं तो सदा अपनी भाषा को सुन्दर और शुद्ध बनाने का ध्यान रखना ही चाहिए, साथ ही दूसरों को भी इस विषय में सचेत करते रहना चाहिए। इससे हम अपना भला तो करेंगे ही, साथ में भाषा का भी बहुत बड़ा उपकार करेंगे। विशेषतः बच्चों की भाषा पर तो हमें और भी अधिक ध्यान देना चाहिए। बच्चे जिस तरह और सब बातों में भूलें करते हैं, उसी तरह बोलने में भी भूलें करते हैं। उस समय यदि उनका ध्यान उन भूलों की ओर दिलाया जाय और उन्हें सचेत कर दिया जाय, तो थोड़े ही समय में वे भी भाषा का अच्छापन बहुत कुछ समझने लगेंगे। पर उस समय यदि हम उनकी भाषा सम्बन्धी भूलों को तुच्छ समझकर उनकी उपेक्षा करेंगे, तो बहुत सम्भव है कि उनमें से बहुत-सी भूलों का फिर कभी सुधार ही न हो। इसी तरह के लोग बड़े होने और बहुत कुछ पढ़-लिख लेने पर भी, भली भाँति सुशिक्षित और विद्या-सम्पन्न होने पर भी 'कै बजो' और 'हम आपका सब बात समझ लिया' सरीखे वाक्य बोलते हुए देखे जाते हैं।

* * *

२

उत्तम रचना

रचना का मुख्य उद्देश्य होता है—अपने भाव दूसरों पर प्रकट करना। अतः वही रचना अच्छी मानी जाती है जो लेखक के मन के भाव पाठकों पर भली भाँति प्रकट कर सके। यदि रचना-प्रणाली ठीक न होगी तो पाठक भ्रम में पड़ जायँगे। वे कुछ का कुछ अर्थ कर बैठेंगे या कुछ भी न समझ सकेंगे। अतः यहाँ रचना के कुछ ऐसे सिद्धान्त बतलाये जाते हैं जिनका ध्यान रखने से लेखक अपने भाव और विचार सफलता-पूर्वक दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं।

लेखों और रचनाओं आदि में सबसे पहली और मुख्य चीज़ है—विचार या भाव। अतः हम जो कुछ लिखना चाहते हों, उससे सम्बन्ध रखने-वाले सब विचार या भाव स्वयं हमारे मन में स्पष्ट होने चाहिएँ। यदि हम स्वयं ही कोई बात अच्छी तरह न समझेंगे तो भला दूसरों को कैसे और क्या समझा सकेंगे! यदि मूल ही अस्पष्ट हो तो उसकी शाखा-प्रशाखाएँ कब स्पष्ट हो सकेंगी! और यदि कहा जाय कि मूल तो सदा अस्पष्ट ही रहता है, तो भी रचना का उद्देश्य तो उसे स्पष्ट करना ही होता है। अतः रचना का सबसे पहला सिद्धान्त है—विचारों का अपने मन में ठीक और स्पष्ट बोध। यदि हम कोई विषय स्वयं ही अच्छी तरह न समझते हों तो उसे दूसरों पर प्रकट करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। अतः कुछ लिखने से पहले हमें अपने लेख का विषय खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और अपने सामने उसका स्पष्ट मानसिक चित्र रख लेना चाहिए। यही सफलता की सब से बड़ी कुंजी है।

जो विषय हमारे मानस-क्षेत्र के जितना ही समीप होगा, उसके साथ हमारा उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध होगा; और उसी विषय पर हम कलम चलाने के अधिकारी हो सकेंगे। अतः लिखने से पहले प्रत्येक विषय की सब बातें भली भाँति हृदयंगम करनी चाहिएँ। जहाँ तक हो सके, उससे सम्बद्ध अधिक से अधिक सामग्री

भी हमें एकत्र करनी चाहिए; और उसपर यथेष्ट मनन तथा विचार करना चाहिए। जिस विषय पर हमारा सच्चा और वास्तविक अनुराग न होगा, वह विषय ठीक तरह से और उपयुक्त रूप में लिख सकना भी हमारे लिए बहुत ही कठिन होगा—वह हमारी शक्ति और अधिकार के बाहर होगा। और जिस विषय के स्पष्ट तथा उपयुक्त विचारों की हममें अधिकता होगी, वही विषय हम सुचारु रूप से प्रतिपादित और स्थापित भी कर सकेंगे। पहले हमें अपने मन का भंडार भरना होगा; तभी हम उस भंडार से दूसरों को लाभ पहुँचा सकेंगे। संसार में स्थायी और उच्च कोटि का जितना साहित्य है, वह सब इसी प्रकार के परिपूर्ण भंडारों से निकला है।

पहले किसी विषय का मनन और अध्ययन करना चाहिए और तब उस पर लेखनी उठानी चाहिए। यदि आपमें सामर्थ्य हो तो आप अनेक विषयों का साथ साथ अध्ययन कर सकते हैं। परन्तु लिखना उसी विषय पर चाहिए, जिसका आपके मन में भली भांति परिपाक हो गया हो।

लिखने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त समय वही होता है, जब मन सब प्रकार की चिन्ताओं और विकलताओं आदि से मुक्त तथा सब प्रकार से निश्चिन्त हो। प्रातःकाल प्रायः शरीर और मन दोनों ही बहुत कुछ स्वस्थ तथा उद्वेगों और व्यग्रताओं से रहित होते हैं। अधिकांश बड़े-बड़े लेखक ऐसे ही हैं जो बहुत सवेरे उठते थे और दैनिक कृत्यों से निवृत्त होकर साहित्य-सेवा में लग जाते थे। कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक भी अवश्य होते हैं जो जब चाहते हैं, तभी लिखने बैठ जाते हैं और खूब लिखते हैं। पर ऐसे लोग अपवाद रूप में ही समझे जाने चाहिएँ। साधारण लोगों के लिए उपयुक्त समय प्रायः सवेरे का ही होता है। इस सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिस समय किसी विषय में चित्त लीन हो जाता है, वही उसपर लिखने का उत्तम समय होता है। लेखक के लिए तल्लीनता आवश्यक है। कोई भावना जिस समय उत्तेजित होती है, उस समय उससे सम्बद्ध विषय पर जो कुछ लिखा जाय, वह तर्क की दृष्टि से भले ही निम्न कोटि का हो, पर उसमें हृदय-ग्राहिता आ ही जाती है।

लिखने का कौशल सहज में प्राप्त नहीं होता। उत्तम रचना करने के

लिए आवश्यक गुण और शक्ति बहुत दिनों में और बहुत परिश्रम से अर्जित की जाती है। बहुत-से लोगों को तो उत्तम और स्थायी रचना प्रस्तुत करने के लिए बरसों परिश्रम करना और अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश लगाना पड़ा है; यहाँ तक कि बहुतों को उसके लिये अपने स्वास्थ्य से भी हाथ धोना पड़ा है। बहुत-सा समय लगाने और बहुत अधिक परिश्रम करने के बाद भी लोगों को अपनी रचनाओं में बहुत कुछ संशोधन और सुधार की आवश्यकता जान पड़ती है। वे समझते हैं कि जब हमारी कृति स्वयं हमारा ही सन्तोष न कर सकी, तब वह दूसरों को कैसे सन्तुष्ट और प्रसन्न कर सकेगी! यह है भी अच्छी कसौटी।

लेखक का काम बहुत-से अंशों में मधुमक्खियों के काम से मिलता है। मधुमक्खियाँ मकरन्द संग्रह करने के लिए कोसों के चक्कर लगाती हैं और अच्छे-अच्छे फूलों पर बैठकर उनके रस लेती हैं। तभी तो उनके मधु में संसार की सर्वश्रेष्ठ मधुरता रहती है! यदि आप अच्छे लेखक बनना चाहें तो आपको भी यही वृत्ति ग्रहण करनी चाहिए। अच्छे अच्छे ग्रन्थों का खूब अध्ययन कीजिए और उनकी बातों पर मनन कीजिए। फिर आपकी रचनाओं में भी मधु का-सा माधुर्य आने लगेगा। कोई अच्छी उक्ति, कोई अच्छा विचार भले ही दूसरों से ग्रहण किया गया हो, पर यदि यथेष्ट मनन करके आप उसे अपनी रचना में स्थान देंगे तो वह आपका ही हो जायगा। मनन-पूर्वक लिखी हुई चीज के सम्बन्ध में जल्दी किसी को यह कहने का साहस हो न होगा कि यह अमुक स्थान से ली गई है, या उच्छिष्ट है। जो बात आप अच्छी तरह आत्मसात् कर लेंगे, वह फिर आपकी ही हो जायगी।

आप दिन-रात बहुत-सी बातें देखते हैं, बहुत-से लोगों से मिलते हैं और बहुत-कुछ पढ़ते हैं। बहुत-सी अच्छी और बुरी बातें आपके सामने आती हैं। यदि आप उन सभी बातों पर थोड़ा ध्यान देने का अभ्यास कर लेंगे तो नित्य आपको अपने काम की सैंकड़ों बातें मिलने लगेंगी। इस प्रकार की सभी बातें ध्यान में रखना तो प्रायः असम्भव होगा; अतः ऐसी बातें यदि आप कहीं टाँकते चलेंगे तो आपके पास जानने और बतलाने योग्य बहुत-सी बातों का एक अच्छा संग्रह तैयार हो जायगा जो समय पर बहुत काम देगा।

उत्तम और उपयुक्त बातों को केवल स्मृति के भरोसे छोड़ देना मानों उनसे हाथ धोने के लिए तैयार होना है।

जब बहुत-से विषय, बहुत-सी बातें और बहुत-से विचार आपकी पूँजी बन जायँगे, तब लिखने का काम उतना कठिन न रह जायगा। उस समय आपकी पहली आवश्यकता यह होगी कि आप उन सब बातों और विचारों आदि को अलग अलग विषय-विभागों में विभक्त कर दें; और तब एक एक विषय लेकर उसपर लिख चलें। बहुत-सी बातों, घटनाओं या विचारों को एक साथ गूँथने लगना ठीक नहीं। प्रत्येक विषय थोड़ा-थोड़ा और आंशिक रूप में लिया जाना चाहिए और क्रमबद्ध रूप में चलना चाहिए। प्रत्येक विचार ही नहीं, बल्कि प्रत्येक वाक्य और यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द खूब तौलकर लिखा जाना चाहिए। ऐसा करने पर उसे दोहराने और उसमें संशोधन या सुधार करने की बहुत ही कम आवश्यकता रह जायगी। फिर भी जब अपनी भूल मालूम पड़े या कोई अच्छा नया विचार सामने आवे, तब अपना लेख दोहराने और सुधारने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए।

विचारों और भावों का क्रम बाँध लेने पर वाक्य में शब्दों का क्रम लगाना भी बहुत आवश्यक होता है। भाव तथा विचार प्रकट करने के लिए पहले उपयुक्त शब्दों की और तब उनके उपयुक्त क्रम तथा सजावट की आवश्यकता होती है। यदि हमारे शब्द हमारे भावों और विचारों के लिए उपयुक्त न होंगे तो उनमें कभी रस आ ही न सकेगा। जिस प्रकार लेख में उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त विचार सजाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार वाक्यों में उपयुक्त शब्द-योजना की भी आवश्यकता होती है। प्रत्येक वाक्य लिखते समय उसके आरम्भ और अन्त के स्वरूपों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यह न हो कि वाक्य उठे तो कहीं से, बीच में वह कहीं और चला जाय और उसका अन्त उन सबसे अलग किसी और जगह जाकर हो। वह उठे तो बहुत ऊँचाई से और अन्त में जाकर गिर पड़े गड्ढे में। वाक्य का आरम्भ पाठक के मन में उत्सुकता उत्पन्न करनेवाला होना चाहिए, उसका मध्य वह उत्सुकता बनाये रखनेवाला होना चाहिए और अन्त उस उत्सुकता का पूरी तरह से समाधान करनेवाला होना चाहिए। वस्तुतः वाक्य का

अन्तिम भाग ही सबसे अधिक महत्त्व का होता है और वही सबसे ज्यादा वजनदार होना चाहिए। सभी वाक्य ऐसे होने चाहिएँ जिन पर पाठकों का ध्यान बराबर लगा रहे, उनकी तबीयत कहीं से उखड़ने न पावे। जो बात वाक्य के सम्बन्ध में है, वही अनुवाक, प्रकरण और समस्त ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

जहाँ तक हो सके, एक वाक्य में एक ही भाव रखा जाना चाहिए। जब वाक्य का विस्तार आवश्यकता से बहुत बढ़ जाता है, तब उसमें भूलें भी आ सकती हैं और वह अस्पष्ट, भद्दा या भ्रामक भी हो सकता है। और यदि इनमें से कुछ भी न हो तो भी पाठकों को उसे समझने में कठिनता तो अवश्य होती है। वाक्य ऐसा होना चाहिए जिसे पढ़ते ही पाठक तत्काल उसका आशय समझ लें, इसके लिए उन्हें कोई विशेष आयास न करना पड़े। कभी कभी ऐसे वाक्य भी रखने पड़ते हैं जिनमें एक से अधिक भाव होते हैं। व्याकरण में ऐसे वाक्यों को 'मिश्र वाक्य' कहते हैं। ऐसे वाक्य लिखते समय और भी अधिक सतर्क रहना चाहिए और उन्हें कहीं से विशृंखल न होने देना चाहिए। कानून की धाराएँ या सभा-समितियों के प्रस्ताव तथा गूढ़ विषयों के विवेचन प्रायः बड़े बड़े मिश्र वाक्यों में ही होते हैं। यदि ऐसे वाक्य स्पष्ट न हों तो फिर उनका लिखा जाना ही व्यर्थ हो जाता है। इसके विपरीत साधारण पत्र, उपन्यासों और नाटकों आदि के कथोपकथन तथा समाचारपत्रों में समाचार आदि लिखते समय साधारण और छोटे छोटे वाक्य ही अधिक उपयुक्त होते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो छोटे, परन्तु गठे हुए वाक्य ही अधिक सुंदर और प्रभावशाली होते हैं। परन्तु साहित्यिक रचनाओं में दोनों प्रकार के वाक्यों की आवश्यकता होती है। कुशल लेखक अच्छी तरह जानते हैं कि कहाँ साधारण और छोटे वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए और कहाँ बड़े तथा मिश्र वाक्यों का। और जब इस प्रकार की रचनाओं में लेखक अपनी कुछ निजी तथा विशिष्ट शब्द-योजना और रचना-प्रणाली की रंगत चढ़ाता है, तब उसकी गिनती उस लेखक की विशिष्ट शैली में होती है।

शैली चाहे जैसी हो, रचना का सौन्दर्य इसी में है कि वाक्य यथा-

साध्य संक्षिप्त और स्पष्ट हों। रचना वही अच्छी कहलाती है जिसमें कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव प्रकट किये गये हों। इसके विपरीत यदि शब्दों का आडम्बर तो बहुत अधिक हो, पर विचार या भाव बहुत ही कम हो तो वह रचना दूषित समझी जाती है और उसका आदर नहीं होता। अच्छी रचना की एक बहुत बड़ी पहचान यह है कि उसमें कुछ भी घटाने-बढ़ाने या उलट-फेर करने की गुंजाइश नहीं होती। यदि किसी वाक्य में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने से उसका सौन्दर्य या स्पष्टता बढ़ जाय तो समझ लेना चाहिए कि वह रचना ठीक नहीं है। और यदि उसमें कुछ भी उलट-फेर करने से उसका सौन्दर्य घट जाय तो समझना चाहिए कि वह निर्दोष और उच्च कोटि की रचना है। अच्छी रचना कभी किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की अपेक्षा ही नहीं रखती। सुधार की तो उसमें जगह ही नहीं रहती और परिवर्तन उसका कोई न कोई गुण नष्ट किये बिना नहीं रह सकता।

यह तो सम्भव नहीं कि सभी लेखक आरम्भ से ही ऐसी सुन्दर रचना करने लगें जिसमें किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता ही न हो। परन्तु निरन्तर अभ्यास से प्रायः सभी लोग इस प्रकार की उत्तम रचना कर सकते हैं। आप दो-चार पृष्ठ लिखें और तब उन्हें दोहरावें-तेहरावें; तब स्वयं आपको उसकी कुछ त्रुटियाँ दिखाई देने लगेंगी। अब वे त्रुटियाँ दूर करके फिर से लिखें। इस प्रकार दो-तीन बार करने से आपको मालूम हो जायगा कि कब, कहाँ और किस तरह की त्रुटियाँ आ जाती हैं और वे किस प्रकार बचाई जा सकती हैं। फिर जब आपको अभ्यास हो जायगा, तब या तो दोहराने की आवश्यकता ही न होगी; और यदि होगी भी, तो बहुत कम।

कोई चीज अच्छी तभी हो सकती है, जब उसके सब दोष दूर कर दिये जायँ। जिस प्रकार मूर्तिकार मूर्ति बनाते समय और चित्रकार चित्र अंकित करते समय बराबर इस बात का ध्यान रखते हैं कि कहीं कोई कोर-कसर न रहने पावे, उसी प्रकार लेखक को भी ध्यान रखना चाहिए कि मेरी रचना में कोई त्रुटि न आने पावे। संसार में सभी चीजों का क्रमशः विकास होता है। आरम्भ में सभी चीजों में कुछ दोष रहते हैं। जब धीरे-

धीरे वे दोष दूर कर दिये जाते हैं, तब जाकर वह चीज सर्वांग-सुन्दर होती है। साहित्यिक रचना भी इस नियम का अपवाद नहीं है। आपकी रचना में जो कुछ अ-सुन्दर हो, वह सब हटा दीजिए; फिर वह रचना आपसे आप सुन्दर हो जायगी। अच्छी रचना भी प्रयत्नपूर्वक और अच्छी बनाई जा सकती है; और इस प्रकार उसके सौन्दर्य की मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते वह परम सुन्दर बनाई जा सकती है।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने के योग्य है। वह यह कि यदि आप आज ही लिखें और आज ही उसे फिर से देखने बैठ जायँ तो उसमें के सब दोष आपके सामने न आ सकेंगे। हाँ, यदि कुछ समय बीत जाने पर आप उसे फिर से देखेंगे तो आपकी दृष्टि में उसके अपेक्षाकृत अधिक दोष आ सकेंगे। इस बीच में आपका ज्ञान भी संभवतः कुछ बढ़ चुका होगा और सौष्ठव की परख भी। अतः एक बहुत बड़े लेखक का यह मत बहुत-से अंशों में बिलकुल ठीक है कि पहले कोई चीज लिखो और तब उसे साल दो साल यों ही रहने दो। फिर जब उसे देखोगे, तब अवश्य ही उसमें के बहुत से दोष और त्रुटियाँ आपसे आप दिखाई देने लगेंगी; और तब उन सबका सहज में सुधार भी हो सकेगा। जो लोग अपनी साहित्यिक रचनाओं का सचमुच आदर कराना चाहते हों, उनके लिये "काता और ले दौड़ी" वाली नीति ठीक नहीं है।

रचना में जिस प्रकार भावों के सौन्दर्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शब्द-योजना की सुन्दरता की भी। संसार की हर चीज सजावट चाहती है। परन्तु सजावट भी अनुरूपता की अपेक्षा रखती है। यदि किसी सुन्दर मूर्ति को सुन्दर वस्त्र पहनाये जायँगे या सुन्दर आभूषणों से अलंकृत किया जायगा, तभी वह मूर्ति और अधिक सुन्दर होगी। यदि किसी भद्दी मूर्ति को सुन्दर वस्त्र पहना दिये जायँ अथवा किसी सुन्दर मूर्ति को भद्दे अलंकार पहना दिये जायँ तो भद्दे और सुन्दर का वह संयोग कभी ठीक न बैठेगा। सम्भव है कि सुन्दर वस्त्रों से किसी भद्दी मूर्ति का भद्दापन कुछ कम हो जाय, परन्तु स्वयं उन वस्त्रों की सुन्दरता बहुत कुछ कम हो जायगी। एक का भद्दापन दूसरे पर प्रभाव डाले बिना न रहेगा। वास्तविक

शोभा तो तभी होगी, जब दोनों ही सुन्दर होंगे। भाव और भाषा का भी बहुत कुछ वही सम्बन्ध है, जो मूर्ति और उसके वस्त्रों आदि का है। सुन्दर भाव भी सुन्दर भाषा से ही सुशोभित होते हैं, भद्दी और भोंडी भाषा से नहीं। इसी प्रकार भड़कीली भाषा भी बिना अच्छे भावों के बे-तुकी जान पड़ेगी। अतः लिखते समय भाव और भाषा की अनुरूपता पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। जिस विषय और जिस अवसर के लिए जैसी भाषा उपयुक्त हो, उसे छोड़कर अन्य प्रकार की भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए।

भाषा पर अधिकार होने के लिए बहुत-से शब्दों का ज्ञान तो होना ही चाहिए, प्रत्येक शब्द के ठीक ठीक अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रायः लोग बहुत-से शब्दों का तो ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उनके ठीक ठीक अर्थ और आशय नहीं समझते और मनमाने ढंग से उनका प्रयोग करते हैं। वे अपनी समझ में तो बहुत चातुरी दिखलाते हैं, पर वास्तव में हास्यास्पद बनते हैं। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें बहुत थोड़े-से शब्दों का ज्ञान होता है और जो मौके-बे-मौके सभी जगह उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं। दोनों ही प्रकार के लेखक वस्तुतः एक ही कोटि में रखे जाने के योग्य हैं। अच्छा लेखक वही होता है जो शब्द भी जानता है और अर्थ भी; और साथ ही यह भी जानता है कि किस शब्द का किस अवसर पर प्रयोग होना चाहिए। अतः लेखकों के लिए शब्दों और अर्थों का पूर्ण ज्ञान बहुत ही आवश्यक है। बिना इस प्रकार के ज्ञान के भाषा की सजावट हो ही नहीं सकती।

भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदि से भी सहायता ली जाती है। इन सभी का भाषा में एक विशेष और निजी स्थान होता है। कहावतों और अलंकारों की तो सब जगह उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, पर मुहावरेदारी की हर जगह आवश्यकता होती है। जो भाषा बे-मुहावरे होगी, वह जरूर खटकेगी। परन्तु मुहावरों के उपयोग के लिए भी कुछ विशेष अवसर होते हैं। यदि भाषा सिर से पैर तक मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदि से लदी हो तो वह भी भद्दी ही मानी जायगी। यदि इनमें से हर एक का उपयुक्त अवसर पर और उपयुक्त मात्रा में व्यवहार हो, तभी भाषा में सौन्दर्य आ सकता है।

जहाँ तक हो सके, भाषा को जटिलता से सदा बचाना चाहिए। जटिलता भाषा के बड़े दोषों में से है। जटिल शब्दों की अपेक्षा सरल शब्द और जटिल वाक्य-रचना की अपेक्षा सरल वाक्य-रचना ही अधिक पसन्द की जाती है। अवश्य ही भावों की जटिलता, और वह भी विशेषतः अनुवाद-कार्य करते समय, हमारे अधिकार के बाहर होती है। परन्तु यह निश्चित है कि हम सरल और स्पष्ट वाक्य-रचना की सहायता से परम जटिल भावों की जटिलता और दुरूहता भी बहुत कुछ कम कर सकते हैं और उन्हें, यदि सबके समझने योग्य नहीं, तो कम-से-कम समझदारों के समझने योग्य तो अवश्य ही बना सकते हैं। ऐसे अवसरों पर यदि भावों के साथ-साथ भाषा और वाक्य-रचना भी जटिल हो तो लाख सिर पटकने पर भी उसका कुछ अर्थ समझ में नहीं आता। परन्तु यदि हम सरल भाषा लिखने के अभ्यस्त हों और हमारे वाक्य स्पष्ट हों तो जटिल भाव और विषय भी बहुत कुछ सरल और बोधगम्य हो सकते हैं।

जब हम कठिन शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनकी सहायता से जटिल वाक्य रचकर जटिल भाव प्रकट करना चाहते हैं, तब हम मानों स्वयं ही अपना उद्देश्य विफल करने पर उद्यत् होते हैं। लिखते समय हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिए पाठकों को कोई विषय समझाना। जब हम इस उद्देश्य पर से दृष्टि हटाकर केवल अपना रचना-कौशल दिखलाने या पांडित्य प्रकट करने लगते हैं, तब हमारा मुख्य उद्देश्य आपसे आप विफल होने लगता है और हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। हमारा वास्तविक कौशल या पांडित्य तो तभी सिद्ध होगा, जब हमारी कृति पाठकों की समझ में आवेगी और वे उससे कुछ लाभ उठा सकेंगे। अतः हम जो कुछ लिखें, वह अपने पाठकों का पूरा पूरा ध्यान रखकर लिखें।

शब्दों के ज्ञान के अतिरिक्त लेखकों के लिये व्याकरण का ज्ञान भी बहुत आवश्यक होता है। व्याकरण हमें भाषा के बहुत-से ऐसे नियम बतलाता है, जिनसे हम अनेक प्रकार की अशुद्धियों से बच सकते हैं। यह ठीक है कि कुछ लेखकों का भाषा पर इतना अधिक अधिकार होता है कि वे बिना व्याकरण की बहुत-सी जटिलताओं का ज्ञान प्राप्त किये ही बहुत

अच्छी और मुहावरेदार भाषा लिख सकते हैं। पर कुछ ऐसे लेखक भी होते हैं जो व्याकरण का बहुत अधिक ज्ञान रखने पर भी प्रायः अशुद्ध भाषा लिखते हैं। इन दोनों प्रकार के लेखकों को हमें अपवाद रूप में ही मानना चाहिए। अधिकांश लेखकों के लिए प्रायः व्याकरण का कुछ न कुछ ज्ञान आवश्यक ही होता है। फिर भी यह निश्चित सिद्धान्त है कि भाषा अभ्यास से ही शुद्ध, सुन्दर और सरस होती है। यदि हम अपनी मातृभाषा में ही लिखते हों और उसका हमें अच्छा अभ्यास हो तो हमारे लिये व्याकरण की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु दूसरी भाषाएँ सीखने और लिखने के कामों में व्याकरण बहुत अधिक उपयोगी होता है। व्याकरण भी एक शास्त्र है; और शास्त्र का ज्ञान सदा कुछ न कुछ उपयोगी ही होता है। अतः अपनी भाषा पर अच्छा अधिकार होने पर भी हमें उसके व्याकरण की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

लेखकों के लिए विराम-चिह्नों का ज्ञान भी कम आवश्यक नहीं है। विराम-चिह्न भाषा को स्पष्ट, सुगम और सुबोध बनाने में सहायक होते हैं। हिन्दी में कुछ ऐसे मान्य लेखक हैं जो विराम-चिह्न नितान्त अनावश्यक और निरर्थक समझते हैं। कुछ अवसरों पर ऐसे सज्जनों के तर्क सुनने का हमें भी अवसर मिला है; परन्तु हम पर उन तर्कों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत हमारे देखने में बहुत-से ऐसे स्थल आये हैं, जिनमें विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक उपयोग न होने से अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। आगे चलकर यथा-स्थान ऐसे कुछ उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि लेखकों को विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक प्रयोग भी अवश्य सीखना चाहिए; और आवश्यकतानुसार उपयुक्त विराम-चिह्नों का उपयोग भी करना चाहिए। विराम-चिह्नों का ठीक-ठीक प्रयोग प्रायः अच्छे व्याकरणों में एक अलग प्रकरण के रूप में रहता है। इसके सिवा हिन्दी में विराम-चिह्नों पर एक छोटी पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है।

लेखकों को छपाई की कला की कुछ छोटी-मोटी बातें और प्रूफ देखने के नियम आदि भी अवश्य जानने चाहिएँ। आज-कल छापे का

युग है। जो कुछ लिखा जाता है, वह प्रायः छापने के उद्देश्य से ही लिखा जाता है। ऐसी अवस्था में छपाई से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ खास और मोटी बातों के ज्ञान का अभाव कुछ अवसरों पर लेखकों के मार्ग में बहुत कठिनता उपस्थित कर सकता है। जो लेखक प्रेस की बातों से परिचित होते हैं, वे उन कठिनाइयों से बचने के सिवा अपनी कृतियों की सुन्दर छपाई और सजावट में भी बहुत-कुछ सहायक हो सकते हैं। इससे भी अधिक उपयोगी प्रूफ के शुद्ध करने के नियमों का ज्ञान है। आप अच्छी-से-अच्छी भाषा लिखें, परन्तु यदि प्रूफ ठीक तरह से न देखा जाय तो आपकी भाषा का बहुत-कुछ सौन्दर्य मिट्टी में मिल जायगा; और सम्भव है कि कुछ स्थानों में तथ्यों या भावों की हत्या भी हो जाय। फिर लेखक जब अपनी रचना का प्रूफ स्वयं देखता है, तब उस रचना का सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है। भाषा सम्बन्धी बहुत-से छोटे-छोटे दोष. जो यों साधारणतः दिखाई नहीं देते, प्रूफ देखने के समय प्रायः सामने आ जाते है और सहज में दूर किये जा सकते हैं। आप स्वयं अपनी या किसी दूसरे की भाषा शुद्ध करने बैठिये। अवश्य ही आप उसके बहुत-से दोष दूर कर सकेंगे। फिर भी बहुत सम्भव है कि उसके कुछ न कुछ दोष बाकी ही रह जायँ। कारण यही है कि हाथ की लिखी प्रति उतनी अधिक स्पष्ट नहीं होती, जितनी छपी हुई प्रति। इसी लिए हाथ की लिखी प्रति शुद्ध करने के समय हमारी बहुत-सी शक्ति और बहुत-कुछ ध्यान उसे पढ़ने में ही लगा रहता है। पर वही चीज जब टाइपों में हमारे सामने आती है, तब हमारी वह बची हुई शक्ति और ध्यान भाषा के सूक्ष्म दोष देखने में लग जाता है और हम उसे सहज में बहुत-कुछ निर्दोष कर सकते हैं।

लेखकों के लिए अध्ययन की आवश्यकता का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हम उसी से सम्बन्ध रखनेवाली एक और आवश्यकता की ओर भी कुछ संकेत करना चाहते हैं। वह है अनेक भाषाओं का ज्ञान। जो लोग अच्छे लेखक बनना चाहते हों, उन्हें अपनी भाषा के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं का ज्ञान भी अवश्य प्राप्त करना चाहिए। दूसरी भाषाओं के अध्ययन से हमें अनेक प्रकार के लाभ होते हैं।

हम विविध प्रान्तों और देशों के उच्च कोटि के लेखकों के विचारों से तो परिचित होते ही हैं. उनकी शैलियों और भाव-व्यंजन की प्रणालियों आदि से भी बहुत अवगत होते हैं। और ये सब बातें समय समय पर हमारे बहुत कुछ काम आती हैं। हम अपने बहुत से सन्देह भी दूर कर सकते हैं और किसी विषय में अपने स्थिर किये हुए मत में आवश्यकतानुसार संशोधन या परिवर्तन या उसका पोषण भी कर सकते हैं। अतः अच्छे लेखकों को कभी किसी भाषा से द्वेष नहीं करना चाहिए, और जहाँ तक हो सके, अधिक से अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसी ज्ञातव्य भाषाओं में स्वयं भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाएँ भी और पूर्व तथा पश्चिम की अनेक नई और पुरानी भाषाएँ भी हैं।

अन्त में हम यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि हमारी रचना सब प्रकार से पुष्ट, निर्मल, प्रसादपूर्ण और शुभ फल देनेवाली होनी चाहिए। हमारी रचना का उद्देश्य सदा पवित्र होना चाहिए। वह सदा देश, समाज और धर्म (व्यापक अर्थ में) के लिए हितकर होनी चाहिए। साहित्यिक रचना के प्रति हमारा सदा पूज्य भाव होना चाहिए। वह किसी मन्दिर या तीर्थ-स्थान से कम पवित्र नहीं समझी जानी चाहिए। मनोविनोद, खेलवाड़ या किसी के अपकार आदि की दृष्टि से कोई रचना नहीं होनी चाहिए। यदि वह मनोविनोद या खेलवाड़ के लिए ही हो, तो भी उसका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि लोगों पर सदा उसका शुभ प्रभाव ही पड़े, कभी कोई अशुभ या अवांछनीय प्रभाव न पड़े। हमारी रचना एक ऐसे मन्दिर के रूप में होनी चाहिए जिसकी ईटें शब्द हों, जिसके कमरे और दालान प्रकरण आदि हों, जिसके खंड या मंजिलें उस रचना के भाग आदि हों और जिसमें मूर्ति अथवा आत्मा के रूप में वह विशुद्ध ध्येय, वह पवित्र उद्देश्य वर्तमान हो, जो नेत्रों के लिए सुखद, मन के लिए मोदकारी और चरित्र या आचार के लिए उत्कर्ष-साधक हो—जिससे सबका और सब ओर मंगल ही मंगल हो।



३

अर्थ, भाव और ध्वनि

बोलने और लिखने में दो बातों का महत्व सबसे अधिक होता है— एक तो अर्थ का और दूसरे भाव का। अर्थ साधारणतः शब्दों का होता है। शब्द-समूह या वाक्य का अर्थ तो होता ही है, कुछ अवसरों पर भाव भी होता है। अर्थ तो बिलकुल साधारण और स्पष्ट चीज है, परन्तु भाव कुछ गम्भीर और गूढ़ होता है। साधारणतः किसी वाक्य का अर्थ समझने में विशेष कठिनता नहीं होती, परन्तु भाव समझने में कभी-कभी कठिनता होती है। अतः बोलने या लिखने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वाक्य का अर्थ तो ठीक रहे ही, उसका भाव समझने में भी किसी को कठिनता या भ्रम न हो।

एक बहुत ही साधारण और छोटा-सा वाक्य लीजिये—'वह गया।' इसमें साधारण अर्थ है; और भाव का प्रायः अभाव ही है। परन्तु जब हम कहते हैं—'वह भी गया।' तब उसके अर्थ के साथ एक भाव भी आ मिलता है। भाव यह है कि कुछ लोग तो गये ही, उनके साथ, बाद या सिवा वह भी गया। वाक्य में भाव कई प्रकार से उत्पन्न होता है अथवा यों कहना चाहिए कि लाया जाता है। कुछ भाव तो शब्द के अर्थों के ही अन्तर्गत होते हैं और कुछ उन शब्दों के साथ लगनेवाली क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। यदि किसी बच्चे के सम्बन्ध में हम कहें कि वह रोने लगा, तो उसका साधारण अर्थ ही होगा, उसमें कोई विशेष भाव न होगा। पर यदि हम किसी वयस्क के सम्बन्ध में कहें कि वह जरा सी हँसी करते ही रोने लगा, तो हमारे कथन का अर्थ ही बदल जायगा और उसमें वह भाव-सूचक तत्त्व आ जायगा, जिसे मुहावरा कहते हैं। यह है प्रसंग के अनुसार शब्दों से निकलनेवाला भाव।

अब वह भाव लीजिये जो कुछ विशिष्ट क्रियाओं के संयोग से उत्पन्न होता है। एक सीधा-सादा वाक्य है—'लोग समझेंगे कि तुम मूर्ख हो।' अब इसमें दो विशिष्ट क्रियाओं के प्रयोग करके देखिये। इसका एक रूप हो सकता है—'लोग समझ लेंगे कि तुम मूर्ख हो।' एक और रूप हो सकता है—'लोग समझ जायँगे कि तुम मूर्ख हो।' इन दोनों ही वाक्यों में 'लेना' और 'जाना' क्रिया-प्रयोगों के कारण दो अलग प्रकार के भाव आ जाते हैं। पहले वाक्य में कुछ गम्भीरता का भाव है, दूसरे में कुछ उपेक्षा या उदासीनता का, और तीसरे में कुछ सतर्क या सचेत करने का। इस प्रकार क्रियाएँ भी विशेष भाव प्रकट करने में सहायक होती हैं।

इसी प्रकार के शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से कुछ विशिष्ट पद बना लिये जाते हैं जो मुहावरे कहलाते हैं। मुहावरों की सबसे बड़ी विशेषता यही होती है कि उनका भाव उनके शब्दों से निकलनेवाले अर्थों से बिलकुल अलग होता है। जैसे—किसी को उँगलियों पर नचाना। उँगलियों पर कभी कोई आदमी नचाया नहीं जा सकता। फिर भी इस पद का प्रयोग एक विशेष भाव सूचित करने के लिए होता है।

यहाँ प्रसंग आ गया है, इसलिए हम मुहावरों के सम्बन्ध में दो एक और बातें भी बतला देना चाहते हैं। बहुत से लोग यह आपत्ति किया करते हैं कि हमारे यहाँ 'मुहावरे' के लिये कोई शब्द ही नहीं है, और मुहावरे हमने दूसरों से सीखे हैं। ऐसे लोगों को हम बतला देना चाहते हैं कि हमारे यहाँ के लोगों को मुहावरों के तत्त्व का अवश्य ज्ञान था। हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्यकारों ने शब्द की तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द की जिस शक्ति के द्वारा उसका साधारण या प्रत्यक्ष अर्थ सूचित होता है, वह अभिधा कहलाती है। जैसे रोटी या मकान का साधारण और प्रचलित अर्थ उसकी अभिधा शक्ति से सूचित होता है। पर यदि हम किसी लड़के को 'गधा' या 'उल्लू' कहें तो इसका कभी यह अर्थ नहीं होता कि वह लड़का मानव जाति का नहीं है, बल्कि उस पशु-वर्ग का है जिसे 'गधा' कहते हैं, अथवा उस पक्षी-वर्ग का है जिसे 'उल्लू' कहते हैं। हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह गधे या उल्लू

के समान मूर्ख और अबोध हैं। यह अभिप्राय इन शब्दों की लक्षणा शक्ति से सूचित होता है। तीसरी व्यंजना शक्ति वह है जिससे किसी शब्द का साधारण अर्थ तो छूट जाता है और कोई विशेष अर्थ प्रकट होता है। मुहावरों का अन्तर्भाव शब्द की इसी व्यापक शक्ति के अन्तर्गत होता है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ मुहावरों का विचार उस संकुचित दृष्टि से नहीं हुआ था, जिससे अन्यान्य देशों के साहित्यकारों ने किया था, बल्कि उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से विचार हुआ था।

एक साधारण शब्द लीजिये—मुँह। इसका पहला और अभिधा शक्ति द्वारा प्रकट होनेवाला अर्थ प्राणियों का वह अंग है, जिससे वे खाते-पीते या बोलते हैं। पर बरतनों का भी मुँह होता है और फोड़े-फुन्सियों का भी। इन प्रसंगों में शब्द की दूसरी शक्ति लक्षणा उनका अर्थ या आशय प्रकट करती है। पर जब हम कहते हैं कि 'आपने इस लड़के को बहुत मुँह लगा रखा है, तब यहाँ शब्द की वह तीसरी शक्ति काम करती है, जिसे व्यंजना कहते हैं। अब इसे आप चाहे मुहावरा कह लीजिये और चाहे और कुछ। शब्दों के लक्षणात्मक प्रयोग ही मुहावरे कहलाते हैं; और व्यंजनात्मक प्रयोग से जो अर्थ सूचित होता है, उसे ध्वनि कहते हैं।

क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों के ठीक ठीक प्रयोगों के सम्बन्ध में आगे चलकर एक स्वतन्त्र प्रकरण ही दिया गया है। यहाँ हम उनका केवल तात्त्विक विवेचन करना चाहते हैं; इसलिए हम इनके सम्बन्ध में एक दो बातें और भी बतला देना चाहते हैं। क्रिया-प्रयोग भी और मुहावरे भी हर एक भाषा में अलग अलग हुआ करते हैं, और उनका ठीक ठीक प्रयोग उस भाषा के ज्ञाता ही कर सकते हैं। जो लोग क्रियाओं और मुहावरों का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें भाषा के अच्छे अच्छे ज्ञाताओं की बातें अच्छी तरह सुननी और रचनाएँ ध्यान से पढ़नी चाहिएँ। क्रिया-प्रयोगों और मुहावरों का ठीक ठीक ज्ञान न होने के कारण भाषा में अनेक प्रकार की भूलें हो जाती हैं और अनेक अवसरों पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण आगे चलकर विस्तार से दिये गये हैं। यहाँ ध्यान में रखने की एक और बात यह है कि एक भाषा के मुहावरों आदि का दूसरी भाषा में

अनुवाद नहीं हो सकता। यह ठीक है कि मनुष्य की प्रकृति प्रायः सब जगह समान रूप से काम करती है; और इसी लिए अनेक भाषाओं में परस्पर मिलते-जुलते भावोंवाले मुहावरे भी पाये जाते हैं। कुछ अवसरों पर दूसरी भाषाओं के मुहावरे कुछ काट-छाँट कर ग्रहण भी कर लिये जाते हैं। परन्तु जब तक वे शिष्ट-सम्मत नहीं हो जाते, तब तक उनका प्रचलन नहीं होता। हाँ, तत्काल किसी दूसरी भाषा के मुहावरे के अनुवाद का प्रयत्न सदा विफल ही होता है। यदि हमारी भाषा में उससे मिलता-जुलता कोई मुहावरा हो तो उससे हम अवश्य अपना काम चला सकते हैं। परन्तु इसके लिए अपनी भाषा के मुहावरों का अच्छा ज्ञान आवश्यक होता है।

'रास्ते का काँटा' एक ऐसा मुहावरा है जिससे मिलते-जुलते मुहावरे और भाषाओं में भी मिलते हैं। परन्तु 'काँटों में घसीटना' ऐसा मुहावरा है जिससे मिलते-जुलते मुहावरे और भाषाओं में कम देखे गये हैं। अँगरेजी का एक मुहावरा है—हार्ड नट टु क्रेक (Hard nut to crack)। हमारे यहाँ इससे मिलता-जुलता मुहावरा है 'टेढ़ी खीर' जो वास्तव में एक कहानी के आधार पर बनी हुई कहावत से बना है। हमारे यहाँ का 'किनारा खींचना' मुहावरा फारसी के "किनारा-कशी" मुहावरे से आया है जो उर्दू के द्वारा शिष्ट-सम्मत होकर प्रचलित हो गया है। परन्तु कान पकड़ना, पल्ले पड़ना, मुँह आना आदि आदि हजारों ऐसे मुहावरे हैं जो हमारे अपने हैं और जिनमें से कुछ के समकक्ष मुहावरे दूसरी भाषाओं में हैं और कुछ के नहीं।

जो बातें मुहावरों के सम्बन्ध में कही गई हैं, वही कहावतों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिएँ। कहावतों का अर्थ और भाव मुहावरों के अर्थ और भाव की अपेक्षा और भी अधिक गम्भीर तथा व्यापक होता है। कहावतों की सहायता से कई बातें बहुत थोड़े शब्दों में कही जा सकती हैं। इसका कारण यही है कि अधिकांश कहावतें किसी न किसी कहानी या घटना के आधार पर बनी होती हैं; और उन कहावतों में उस कहानी अथवा घटना का सारांश या निचोड़ रहता है। अतः कहावतों का उपयोग थोड़े शब्दों में परिस्थिति समझाने के लिए किया जाता है। परन्तु कहावतों का ठीक प्रयोग भी मुहावरों की तरह बहुत समझ-

बूझकर ही होना चाहिए। मुहावरों और कहावतों आदि के सम्बन्ध में और अधिक विवेचन करने के लिये यहाँ हमारे पास स्थान नहीं है, अतः हम यह विषय छोड़कर अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

भाषा और भाव सदा साथ-साथ चलते हैं। भावों के लिए ही भाषा होती है, अतः एक प्रकार से कहा जा सकता है कि भाषा सदा भावों की अनुगामिनी होती है। परन्तु दूसरी दृष्टि से विचार करने पर कहना पड़ता है कि भावों को भी भाषा का अनुगमन करना पड़ता है। यदि भाषा अपने ठीक रास्ते पर चले तो भाव कभी इधर-उधर नहीं हो सकते। पर जहाँ भाषा में जरा भी गड़बड़ी होती है, वहाँ भाव भी बिना कुछ न कुछ गड़बड़ाये नहीं रह सकते। यह बात दूसरी है कि हम प्रसंग अथवा अभ्यास आदि के सहारे अशुद्ध या बेढंगी भाषा का भी ठीक ठीक भाव समझ लें, परन्तु सब लोग सदा ऐसा नहीं कर सकते। बेढंगी या बे-ठिकाने की भाषा से अनेक अवसरों पर बहुत से लोगों को अनेक प्रकार के भ्रम हो सकते हैं और होते हैं। जब पाठक किसी वाक्य का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ सकता और उसके आशय या भाव तक नहीं पहुँच सकता, तब उसे बहुत उलझन होती है; यहाँ तक कि कभी-कभी वह खिझला भी जाता है। इसलिए भ्रम उत्पन्न करनेवाली भाषा लिखना बहुत बड़ी मूर्खता है।

वाक्य में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित स्थान होता है। इसी लिए सबसे अच्छा वाक्य वही समझा जाता है, जिसमें एक शब्द भी घटाने-बढ़ाने या इधर-उधर करने की आवश्यकता न पड़े। शुद्ध और अच्छे वाक्यों में यदि एक शब्द भी इधर-उधर कर दिया जाय तो या तो वह वाक्य अशुद्ध हो जायगा या उसका आशय ही बदल जायगा। उदाहरण के लिए एक सीधा-सादा वाक्य लीजिये जो प्रायः व्याकरणों में मिलता है। वाक्य है—'उसने राम को घोड़ा दिया।' इसका दूसरा रूप होता है—'राम को उसने घोड़ा दिया।' आज-कल के अधिकांश लेखकों की कृतियाँ देखने पर यही जान पड़ता है कि वे इस प्रकार के वाक्यों में कुछ भी अन्तर नहीं समझते। वे समझते हैं कि 'राम को उसने

घोड़ा दिया।' और 'उसने राम को घोड़ा दिया।' में कुछ भी अन्तर नहीं है। परन्तु वाक्य का एक तीसरा रूप भी हो सकता है—'घोड़ा उसने राम को दिया।' ये तीनों वाक्य एक साथ रखने पर सहज में पता चल जाता है कि इनके भावों में अन्तर है और बहुत कुछ अन्तर है।

(१) उसने राम को घोड़ा दिया।
(२) राम को उसने घोड़ा दिया।
(३) घोड़ा उसने राम को दिया।

इनमें से पहले वाक्य में बिलकुल साधारण विधान है। उसमें एक सामान्य घटना का उल्लेख है। पर उसका आशय यह है कि उसने राम को घोड़ा दिया (और कुछ नहीं दिया)। परन्तु दूसरे वाक्य में 'राम' पर जोर है और उसका आशय यह है कि राम को ही उसने घोड़ा दिया, और लोगों को दूसरी चीजें दीं। तीसरे वाक्य में घोड़े पर जोर है। उसने औरों को और जो कुछ दिया हो, पर राम को घोड़ा ही दिया।

व्याकरण का साधारण नियम यह है कि वाक्य में पहले कर्त्ता रहता है, फिर कर्म और अन्त में क्रिया। यदि वाक्य इसी साधारण क्रम के अनुसार बना हो तो उसमें साधारण विधान होता है। उससे यही सूचित होता है कि ऐसी घटना हुई अथवा किसी ने ऐसा किया; पर यदि इस क्रम में कुछ परिवर्त्तन करके वाक्य के आरम्भ में कोई और शब्द रखा जाय तो फिर उसी शब्द पर जोर होता है। इस प्रकार वाक्य के सब शब्द वही रहने पर भी उनके स्थान बदल जाने के कारण ही अलग-अलग भाव सूचित होते हैं।

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिये :—

(१) उसका पता स्वयं डाक्टर साहब ने मुझे दिया था।
(२) उसका पता मुझे डाक्टर साहब ने स्वयं दिया था।
(३) उसका पता डाक्टर साहब ने स्वयं मुझे दिया था।

इन तीनों वाक्यों में भी सब शब्द ज्यों के त्यों हैं, परन्तु कुछ शब्दों के केवल स्थान बदले हुए हैं; और शब्दो के इस स्थान-परिवर्तन से ही वाक्यों के भावों में कुछ अन्तर आ गया है। पहले वाक्य में एक साधारण घटना

का साधारण उल्लेख है। उसमें 'डाक्टर साहब' पर कुछ जोर अवश्य है, पर दूसरे वाक्य में वह जोर बहुत ज्यादा बढ़ जाता है; और तीसरे वाक्य में 'स्वयं मुझे' पर जोर आ जाता है।

(१) उसने अपना काम जल्दी खतम कर दिया।

(२) अपना काम उसने जल्दी खतम कर दिया।

पहला वाक्य साधारण है; पर दूसरे वाक्य का भाव यह है कि शायद उसके पास कुछ और लोगों के काम भी थे। पर उन सब कामों में से अपना काम तो उसने जल्दी खतम कर दिया और दूसरों के कामों में देर लगाई।

(१) नई वर्दियों में सिपाही बहुत अच्छे जान पड़ते थे।

(२) सिपाही नई वर्दियों में बहुत अच्छे जान पड़ते थे।

इनमें से पहले वाक्य का आशय यह है कि सिपाही यों तो अच्छे थे ही, पर नई वर्दियों में और भी अच्छे जान पड़ते थे। दूसरे वाक्य का आशय यह है कि सिपाही साधारणतः अच्छे नहीं थे और पुरानी वर्दियों में भद्दे दिखाई देते थे। पर जब उन्होंने नई वर्दियाँ पहन लीं, तब उन वर्दियों के कारण ही वे अच्छे जान पड़ने लगे।

इसी प्रकार के कुछ अन्तर नीचे लिखे वाक्यों में भी हैं, जो बहुत ही थोड़े विचार से स्पष्ट हो सकते हैं।

(१) उसने यह मकान बनवाया था।

(२) यह मकान उसने बनवाया था।

(१) मैं नदी के किनारे गया।

(२) नदी के किनारे मैं गया।

(१) किसी ने इनके नाम से ग्रन्थ-रचना की है।

(२) इनके नाम से किसी ने ग्रन्थ-रचना की है।

(१) आपने यह खबर जरूर सुनी होगी।

(२) जरूर आपने यह खबर सुनी होगी।

(१) ऐसा ही होना चाहिए।

(२) ऐसा होना ही चाहिए।

अभी तक हमने ऊपर वही उदाहरण दिये हैं जिनमें शब्दों के केवल

स्थान-परिवर्त्तन से भाव में थोड़ा या बहुत अन्तर आता है। इससे यह तो सिद्ध हो ही गया कि वाक्य में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित स्थान होता है। अब इसी से मिलते-जुलते एक और तत्त्व पर विचार कीजिये। वह यह कि वाक्य में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। यही बात दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही जा सकती है कि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है और इसलिए वाक्य में उसका प्रयोग उसी निश्चित अर्थ में होना चाहिए। बहुत-से शब्दों के एक से अधिक अर्थ भी होते हैं, परन्तु उनका प्रयोग सदा उनमें से किसी एक ही अर्थ में होता है। एक वाक्य में, श्लेष को छोड़कर, एक शब्द साधारणतः एक से अधिक अर्थों में कभी प्रयुक्त नहीं होता। अतः शब्दों का प्रयोग करते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रहना चाहिए कि वे अपने ठीक अर्थ में अपना पूरा-पूरा भाव प्रकट करने के लिए और अपने निश्चित स्थान पर आवें।

यदि शब्द अपने ठीक स्थान पर न रहें तो लेखक का आशय समझने में पाठकों को बहुत कुछ भ्रम भी हो सकता है। आज-कल प्रायः ऐसे वाक्य देखे जाते हैं जो भले ही पाठकों के मन में भ्रम न उत्पन्न करें, फिर भी वास्तविक दृष्टि से भ्रामक हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—'उसने उनके गले में एक गेंदे की माला डाल दी।' इस पर यह शंका हो सकती है कि क्या वह माला एक ही गेंदे की थी? एक फूल की माला तो हो नहीं सकती। इसलिये इस वाक्य में 'एक गेंदे की माला' की जगह 'गेंदे की एक माला' लिखना ही ठीक होगा। एक समाचार-पत्र में एक समाचार का शीर्षक इस प्रकार छपा था—'कई रेलवे के कर्मचारियों की गिरिफ्तारी'। घटना एक ही स्थान की थी; और वास्तव में लेखक का अभिप्राय यह था कि एक रेलवे के कई कर्मचारी गिरिफ्तार हुए हैं। परन्तु शीर्षक के शब्दों से यह भ्रम हो सकता था कि कई रेलवे कम्पनियों के कर्मचारी गिरिफ्तार किये गये, जो वस्तुतः ठीक नहीं था। इसी प्रकार एक जगह छपा था—'हम निम्न-लिखित काशी के निवासी।' इससे यह भ्रम हो सकता है कि काशी नाम की बहुत-सी नगरियाँ हैं और उनमें से 'निम्न-लिखित काशी' के कुछ निवासी कोई बात कह रहे हैं। होना चाहिए था—'काशी के हम

निम्नलिखित निवासी'। यही बात 'एक चौक थाने का सिपाही घायल हुआ।' के सम्बन्ध में भी है।

यहाँ हम कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनमें शब्दों का ठीक ठीक प्रयोग नहीं हुआ है और इसी लिए जो भ्रामक, भद्दे या दूषित हो गये हैं।

(१) 'मुझे सन्देह है कि युद्ध १६४४ के पहले बन्द हो जायगा।' इससे यह सूचित होता है कि वक्ता महोदय मानों यह चाहते हैं कि युद्ध अभी कुछ और अधिक समय तक चलता रहे। होना चाहिए—'मैं समझता हूँ कि ....' वाक्य में यह दोष आँखें बन्द करके अंगरेजी से अनुवाद करने के कारण आया है।

(२) 'शिक्षापूर्ण गानों के बीच बीच में कहनेवाले दोहों का संग्रह' 'कहने लायक' या 'कहे जानेवाले' होना चाहिए।

(३) 'वह दंड देने के योग्य है।' होना चाहिए—'वह दंड पाने या दंडित होने के योग्य है।' 'दंड देने के योग्य' का तो यह भी अर्थ हो सकता है कि उसमें इतनी क्षमता है कि वह औरों को दंड दे सके। यही बात 'दलन करने योग्य' और 'नष्ट करने योग्य' सरीखे प्रयोगों के सम्बन्ध में भी है।

(४) 'वे एक बड़े वृक्ष से एक देवता का चित्र बनवाने में लगे थे।' मानो वे देवता का चित्र बनाने का काम एक बड़े वृक्ष से ही करवा रहे थे। वास्तविक आशय यह है कि वे कोई बड़ा वृक्ष कटवाकर अथवा उसी वृक्ष में एक देवता की मूर्ति (चित्र नहीं) बनवा रहे थे।

अब तक ऐसे वाक्यों के उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें शब्दों के ठीक स्थान पर न होने के कारण या ठीक शब्दों का प्रयोग न होने के कारण भाव बदल जाता है अथवा अलग अलग स्थानों पर रहने से अलग अलग भाव प्रकट होते हैं। अब हम ऐसे उदाहरण देना चाहते हैं जिनमें केवल मात्रा का अन्तर होने के कारण ही भाव बदल जाता है। एक वाक्य लीजिये— 'रोगी को अनार, सन्तरा और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए।' इसका अर्थ होगा कि रोगी को अनार दिया जाना चाहिए, सन्तरा दिया जाना चाहिए और अंगूर का रस (अंगूर नहीं) दिया जाना चाहिए। पर यदि हम कहें—'रोगी

को अनार, सन्तरे और अंगूर का रस दिया जाना चाहिए।' तो इसका अर्थ यह होगा कि इन फलों का रस दिया जाना चाहिए, फल नहीं दिये जाने चाहिएँ। परन्तु फिर भी यह सन्देह रह ही जाता है कि तीनों फलों के एक में मिले हुए रस दिये जायँ या तीनों फलों के अलग अलग रस दिये जायँ। यह विषय और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम एक दूसरे प्रकार का वाक्य लेते हैं—'इस दूकान पर अनार, संतरे और अंगूर का शरबत मिलता है।' इसका ठीक ठीक शब्दार्थ यही होगा कि इस दूकान पर तीनों फलों का मिला हुआ शरबत मिलता है। यदि हम यह बतलाना चाहें कि तीनों फलों के अलग अलग शरबत मिलते हैं, तो हमें कहना होगा—'अनार, सन्तरे और अंगूर के शरबत मिलते हैं।' इस वाक्य पर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि इसका अर्थ होगा कि इस दूकान पर अनार मिलते हैं और सन्तरे तथा अंगूर के शरबत मिलते हैं। पर यह आपत्ति ठीक नहीं है। अन्तिम भाव प्रकट करने के लिए वाक्य का रूप होगा—'इस दूकान पर अनार और सन्तरे तथा अंगूर के शरबत मिलते हैं।' कहने का तात्पर्य केवल यह है कि वाक्यों में एक एक मात्रा का भी बहुत महत्व और अर्थ होता है।

केवल मात्रा के परिवर्तन के कारण अर्थ में भेद होने का प्रसंग आ गया है, इसलिए एक बात याद आ गई। एक बार एक प्रसिद्ध गजल का एक शेर एक अच्छे गवैये के मुँह से इस प्रकार सुना था—

दहाने जख्म से हर वार पर आवाज आती है।
खुदा रखे मसीहा को, मजा कातिल से मिलता है॥

बहुत कुछ सोचने पर भी अन्तिम मिसरे का कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आया। इसके बाद जब और भी कई आदमियों के मुँह से यह मिसरा इसी रूप में सुना, तो उलझन और भी बढ़ी। बहुत कुछ सिर-पच्ची करने के बाद अन्त में यह समझ में आया कि यह मिसरा इसी लिए निरर्थक जान पड़ता है कि इसमें 'का' की जगह लोगों ने भूल से 'को' कर दिया है। होना चाहिए—

खुदा रखे, मसीहा का मजा कातिल से मिलता है।

अर्थात् पूरे शेर का आशय यह है कि कातिल जब जब मुझ पर वार करता है, तब तब मेरे घाव-रूपी मुख से यह आवाज आती है कि ईश्वर ऐसे कातिल को जीता रखे जिससे (उसके वारो की जीवनदायिनी शक्ति और माधुर्य के कारण) मसीहा का मजा मिलता है। इससे मतलब बिलकुल साफ हो जाता है ; परन्तु "का" की जगह "को" रखने से कुछ भी मतलब नहीं निकलता। यहाँ इस मिसरे के सम्बन्ध में ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि यदि इसमें अल्प-विराम का ठीक तरह से प्रयोग न किया जाय तो भी मतलब खब्त आता है। विराम-चिह्नों का विचार आगे चलकर किया जायगा।

एक और प्रकार है जिससे वाक्य के अर्थ और भाव में अन्तर पड़ सकता है। वह है—वाक्य में प्रसंग के अनुकूल शब्दों का चुनाव न होना। जहाँ शब्दों का चुनाव प्रसंग के अनुकूल नहीं होता, वहां भी आशय समझने में गड़बड़ी हो सकती है। मान लीजिये कि हम जिक्र तो करते हैं पिस्सुओं का और उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—'इनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बड़ी होती हैं'। कदाचित् यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इस प्रसंग में पुरुष और स्त्री की जगह नर और मादा होना चाहिए। यह एक बहुत ही साधारण सी बात है जो सभी लोग जानते और समझते हैं। परन्तु हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि पिस्सुओं के प्रसंग में यदि 'नर और मादा' शब्दों का प्रयोग न करके 'पुरुष और स्त्री'[1] सरीखे शब्दों का प्रयोग किया जायगा तो अपरिचितों या विदेशियों को वास्तविक आशय समझने में भ्रम हो जायगा।

---

१ कुछ लोग कह सकते हैं कि पुरुष और स्त्री का भी अर्थ वही है जो नर और मादा का है। परन्तु हिन्दी में वस्तुतः पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों आदि के सम्बन्ध में प्रायः नर-मादा शब्दों का ही प्रयोग होता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे चलकर "हमारी आवश्यकताएँ" शीर्षक प्रकरण में किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग विदेशी भाषाओं के शब्दों से घबराते हैं, उनके समाधान के लिए वहीं यह भी बतलाया गया है कि हमें विदेशी भाषाओं के शब्दो से क्यों नहीं घबराना चाहिए और क्यों तथा किन अवसरों पर उनका प्रयोग करना चाहिए।

मान लीजिये कि एक ऐसा आदमी है जो यह तो नहीं जानता कि 'पिस्सू' क्या चीज है, पर वह नर-मादा और स्त्री-पुरुष का साधारण अर्थ और भेद समझता है। वह समझ सकता है कि पिस्सू भी मनुष्यों की कोई जाति है जिसमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बड़ी होती हैं।

इसी प्रकार यह कहना भी भ्रामक है—'मक्खी के समान इन अंडों में भी परिवर्तन होते हैं।' वस्तुतः आशय तो यह है कि जिस प्रकार के परिवर्तन मक्खियों के अंडों में (स्वयं मक्खियों में नहीं) होते हैं, उसी प्रकार के परिवर्त्तन इन अंडों में भी होते हैं। परन्तु वाक्य की रचना से ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार के परिवर्तन स्वयं मक्खियों में—उनके अंडों में नहीं—होते हैं, उसी प्रकार के परिवर्तन इन अंडों में भी होते हैं। और यह आशय वास्तविक तथ्य से बहुत दूर जा पड़ता है।

इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिये—

(१) कोट का दाम पाजामे से अधिक होता है। (पाजामे के दाम से)

(२) आपके सब काम हमसे अच्छे होते हैं। (हमारे कामों से)

(३) बौद्ध स्तोत्र और माहात्म्य हिन्दुओं के से हैं। (हिन्दुओं के स्तोत्रों और माहात्म्यों के से हैं।)

(४) कुत्ता दरबान की तरह दुम हिलाता हुआ दरवाजे पर खड़ा रहता था। (मानों दरबान भी कुत्ते की ही तरह दुम हिलानेवाला कोई जीव हो। होना चाहिए—कुत्ता दुम हिलाता हुआ दरबान की तरह............।)

यहाँ हम अर्थ-सम्बन्धी एक और तत्त्व भी संक्षेप में बतला देना चाहते हैं। प्रत्येक अवसर पर शब्दों का अर्थ प्रसंग के अनुसार ही लगाया जाता है। यदि प्रसंग का ध्यान न रखा जाय तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि हम कहें—'उन्होंने उस हाथी के पालने में हजारों रुपये खर्च किये थे।' तो साधारणतः यहाँ 'पालना' शब्द का वही साधारण क्रियावाला अर्थ (पालन करना) लिया जाना चाहिए, न कि उसका संज्ञावाला वह अर्थ जो उस खटोले का सूचक है, जिसपर बच्चे लेटाकर झुलाये जाते हैं और जिसे हिंडोला या गहवारा भी कहते हैं। क्योंकि यह स्पष्ट ही है कि हाथी को लेटाकर झुलाने लायक पालना न तो

बनता ही है और न जल्दी बन ही सकता है। तुलसी-कृत रामायण की एक चौपाई है—

देह दिनहु दिन दूबरि होई।
घटत तेज-बल मुख-छवि सोई॥

यह चौपाई उस समय कही गई है, जब रामचन्द्र जी वन की ओर प्रस्थान कर चुके हैं और भरत जी नन्दिग्राम में जाकर नियम और संयम-पूर्वक रहने लगे हैं। चौपाई का वास्तविक आशय यह है कि कठोर संयम से रहने के कारण भरत जी का शरीर तो दिन पर दिन दुबला होता जाता है, फिर भी तेज-बल घटित होता अर्थात् बनता या पुंजीभूत होता जा रहा है और उनके मुख की शोभा ज्यों की त्यों बनी है। पर यहाँ 'घटत' शब्द का ठीक ठीक अर्थ न समझने के कारण अधिकांश टीकाकार गड़बड़ा जाते हैं और या तो कुछ का कुछ अर्थ कर जाते हैं और या मूल पाठ ही अपनी समझ के अनुसार बदल देते है। अन्तिम शब्द 'सोई' का अर्थ भी 'वही' होगा, 'सो गई' नहीं होगा। मैना (पक्षी) की एक पहेली है—

एक नार तरुवर से उतरी, उसके सिर पर पाँव।
ऐसी नार कुनार को मैं ना देखन जाँव॥

इसमें 'उसके सिर पर पाँव' का वास्तविक और संगत अर्थ यही है कि उसके सिर भी है, पर भी हैं और पाँव भी हैं। यदि यह अर्थ लगाया जाय कि उसके सिर के ऊपर पैर होते हैं तो वह असंगत ही होगा। पद का उक्त रूप तो केवल बूझनेवालों को धोखे में डालने के लिए है। अतः लिखने और पढ़ने के समय इस तत्त्व का भी ध्यान रखना चाहिए।

यह एक निश्चित सिद्धांत है कि जब किसी भाषा के कुछ शब्द उस भाषा के व्याकरण के कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किसी वाक्य में क्रम से रखे जाते हैं, तब उनका कुछ न कुछ अर्थ होता ही है। पर उस अर्थ का सम्बन्ध वास्तविकता के साथ भी होता है। यदि अर्थ का सम्बन्ध वास्तविकता के साथ न हो तो व्याकरण के नियमों के अनुसार वाक्य शुद्ध होने पर भी निरर्थक रह जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम कहें—'कल हिमालय पर्वत लन्दन की सैर करने गया था।' या 'अमेरिका का एक हवाई जहाज

आज-कल चीन में अपने रहने के लिये एक मकान बना रहा है।' तो ये दोनों वाक्य व्याकरण की दृष्टि से बिलकुल ठीक होने पर भी अर्थ की दृष्टि से किसी मतलब के नहीं हैं। न तो हिमालय पर्वत ही अपना स्थान छोड़कर कहीं सैर करने जा सकता है और न हवाई जहाज ही अपने लिए मकान बना सकता है। फिर भी कुछ लोग कभी-कभी जल्दी में बिना समझे-बूझे इसी तरह के कुछ वाक्य लिख जाते हैं, जिनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। एक किस्सा है कि एक सज्जन ने अपने एक मित्र को एक पत्र लिखा था। उस पत्र के अन्त में उन्होंने यह भी लिख दिया था—'यदि यह पत्र आपको न मिले तो मुझे सूचित कीजियेगा। मैं इसकी नकल आपके पास भेज दूँगा।' यहाँ सोचने की बात यह है कि यदि वह पहला पत्र पानेवाले को मिलेगा ही नहीं तो वह कैसे जानेगा कि इसकी नकल भी भेजनेवाले के पास है और वह माँगने पर मिल सकती है ?

इसी तरह के और भी कई किस्से हैं। किसी सरकारी दफ्तर में बहुत-से पुराने कागज-पत्रों की नत्थियाँ या फाइलें बहुत-सा स्थान घेरे हुए थीं। उस विभाग के प्रधान कर्मचारी ने उन्हें बिलकुल व्यर्थ समझकर अपने प्रधान अधिकारी से उन सबको जला देने की आज्ञा माँगी। उन सब कागजों को जला देने की जो आज्ञा मिली थी, उसमें यह भी लिखा था—'इन सबको जलाने से पहले इनकी नकल जरूर कर ली जाय !'

कहते हैं कि एक बार किसी बड़ी देशी रियासत के किसी गाँव में आग लगी। गाँववालों ने तहसीलदार से दम-कल भेजने की प्रार्थना की। तहसीलदार ने वह प्रार्थना-पत्र जिले के अधिकारी के पास भेज दिया और जिले के अधिकारी ने ऊपर के बड़े अफसरों के पास उसे भेजा। अन्त में महीनों बाद महाराज ने उस पर आज्ञा लिखी—'तुरन्त भेजने का प्रबन्ध किया जाय।'

किसी आदमी ने अपनी स्त्री की नाक दाँत से काट ली थी। जब अदालत में मुकदमा पेश हुआ, तब उस स्त्री ने अपने पति को किसी तरह बचाना चाहा। उसने कहा—'मेरे पति ने मेरी नाक नहीं काटी।' उससे पूछा गया कि तब फिर नाक कटी कैसे ? उसने उत्तर दिया—'मैंने क्रोध में आकर स्वयं ही अपने दाँतों से अपनी नाक काट ली थी।'

एक मालिक ने अपने नौकर को हुक्म दिया था—'जब सो जाना, तब दीया बुझा देना।' मतलब यह था कि जब सोने लगना, तब दीया बुझा देना। पर नौकर यदि अपने मालिक की आज्ञा का अक्षरशः पालन करे तो फिर दीया रात भर किसी तरह बुझाया ही नहीं जा सकता। वह जब तक जागता रहेगा, तब तक बुझावेगा ही नहीं; और सो जाने के बाद उसके लिए बुझाना असम्भव ही होगा।

इस तरह की भूलें अक्सर लोगों से हो जाया करती हैं। एक बार एक समाचार-पत्र में निकला था—'कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए जो कमेटी बननेवाली है, उसका यह मत है कि देश की पैदावार बहुत बढ़ सकती है।' इसमें विलक्षणता यह है कि कमेटी अभी बनी नहीं है, सिर्फ बननेवाली है। लेकिन फिर भी उसका मत पहले से बतलाया जा रहा है, जो किसी प्रकार संगत या सम्भव नहीं। एक जगह देखा था—'कलकत्ते और बम्बई जैसे बड़े शहरों में नित्य हजारों इमारतें और सड़कें बनती रहती हैं।' यहाँ विचारणीय यह है कि बड़े शहरों में नित्य हजारों इमारतें तो बनती रहती हैं, पर नित्य हजारों सड़कें कैसे बन सकती हैं? एक और जगह पढ़ा था—'लन्दन से जो हवाई जहाज आता है, उसकी रफ्तार फ़ी घन्टे तीन सौ मील होती है।' मानों यह निश्चित सिद्धांत ही हो कि लन्दन से आनेवाले किसी हवाई जहाज़ की रफ्तार फी घन्टे तीन सौ मील से कम या ज्यादा हो ही नहीं सकती।

एक कहानी में पढ़ा था—'दोनों हाथ कमर पर रख, सीना आगे की ओर झुकाते हुए मुँह बनाकर सुकुल जी ने फंकी लगाई।' जिक्र था सुरती की फंकी का। लेखक ने पहले तो लिख दिया—'कमर पर दोनों हाथ रख' और अन्त में लिख दिया—'फंकी लगाई।' यह न सोचा कि जब दोनों हाथ पहले से कमर पर रखे थे, तब फंकी कैसे लगाई होगी। जरा-सी असावधानी कभी-कभी मुँह या कलम से ऐसी बात निकलवा देती है जिसमें पूर्वापर का सामंजस्य नहीं बैठता और सुनने या पढ़नेवाले हँस पड़ते हैं।

एक पुस्तक में पढ़ा था—'हाल ही में स्व० श्री उडरफ के तत्त्वावधान में जो तंत्र सोसाइटी स्थापित हुई थी............।' अवश्य ही

सुयोग्य लेखक का वह आशय नहीं था जो इस वाक्य से प्रकट होता है, परन्तु असावधानी के कारण यह वाक्य कितना भद्दा हो गया है !

एक मान्य विद्वान् के लेख में पढ़ा था—'इस बार असन्तोष की जो लहर उठी थी, वह चिरकाल से दबी हुई असन्तोषाग्नि की चिनगारी मात्र थी।' पर कहाँ लहर और कहाँ चिनगारी !

किसी नाटक के एक पात्र को अभिनय के समय आवेशपूर्वक कहते हुए सुना था—'मारे थप्पड़ों के खाल खींच लूँगा।' थप्पड़ों की मार से मुँह लाल हो सकता है, पर खाल नहीं खिंच सकती। खाल खींचने की क्रिया तो कुछ और ही साधनों से की जाती है। यह तो 'मारूँ घुटने, फूटे आँख' वाली बात हुई।

वाक्यों के अर्थ और भाव का विचार तो हो चुका, पर इसके साथ एक और तत्त्व का विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है, जिसके बिना यह विवेचन शायद अधूरा रह जाय। वह तत्त्व है ध्वनि। हमारे यहाँ के प्राचीन साहित्यकारों ने इस तत्त्व का भी अपनी रचनाओं में विशद विवेचन किया है। उनका मत है कि जिस काव्य में यह तत्त्व होता है, वह सर्वोत्तम समझा जाता है। काव्यगत ध्वनि का विवेचन करना हमारा काम नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो उस सामान्य ध्वनि से है जो प्रायः वाक्यों से निकलती है। साधारणतः ध्वनि उस चमत्कार को कहते हैं जो वाक्यों के शब्दों से निकलनेवाले साधारण अर्थ के अतिरिक्त किसी प्रकार के व्यंग्य के रूप में प्रकट होता है। यदि रचना में यह चमत्कार जान-बूझकर लाया जाय और उससे अभीष्ट की ठीक तरह से सिद्धि हो जाय तो अवश्य ही रचना उत्तम मानी जायगी। परन्तु कभी कभी लोग भूल से या अनजान में ऐसी बात कह जाते हैं जिससे कोई अनिष्ट या अप्रिय ध्वनि निकलती है। बहुत दिन हुए, उर्दू के किसी अखबार में किसी हलुए के विज्ञापन में उसकी तारीफ में छपा था—'यह हलुआ खाने के बाद फिर कुछ भी खाने की जरूरत नहीं रह जाती।' बात बहुत दिनों की है, इसलिए वाक्य का रूप सम्भव है कि इससे कुछ भिन्न रहा हो, पर उससे ध्वनि यही निकलती थी कि यह हलुआ खाकर आदमी मर जाता है और उसके लिए कुछ और खाने की नौबत ही नहीं आती !

इसी तरह का एक किस्सा है। एक आदमी किसी दवाखाने में कोई दवा खरीदने गया था। दवा बेचनेवाले नौकर ने एक दवा की तारीफ करते हुए कहा—'इसकी एक ही शीशी से आपका रोग सदा के लिए बिलकुल अच्छा हो जायगा।' उस आदमी ने पूछा—'आखिर आप यह किस आधार पर कहते हैं कि एक ही शीशी से रोग सदा के लिए अच्छा हो जायगा?' उसने उत्तर दिया—'जो यह शीशी एक बार ले गया, वह फिर कभी लौटकर मेरे पास नहीं आया।' यह बात उस नौकर ने अपनी ओर से बिलकुल सीधी तरह से कही थी। पर उसके कथन से यही ध्वनि निकलती थी कि या तो यह दवा खाते ही आदमी मर जाता है; और या कम से कम इससे इतना निराश हो जाता है कि वह फिर कभी लौटकर नहीं आता!

कहते हैं कि स्व० सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के समय धार्मिक कृत्य करानेवाले एक पादरी से किसी कृत्य में कुछ भूल हो गई। बादशाह ने नम्रतापूर्वक पादरी से कहा कि यह कृत्य इस प्रकार नहीं, बल्कि इस प्रकार होना चाहिए था। पादरी ने बिना सोचे-समझे उत्तर दिया—'बहुत ठीक। अगली बार मैं इसका ध्यान रखूँगा।' अर्थात् जब आप मरेंगे और मैं आपके उत्तराधिकारी का अभिषेक कराऊँगा, तब ऐसी भूल न होगी! यह है ध्वनि का चमत्कार!

इन सब बातों का आशय यही है कि लिखते समय एक एक शब्द और एक एक मात्रा का ध्यान रहना चाहिए और प्रत्येक शब्द अपने ठीक अर्थ में और उपयुक्त स्थान पर आना चाहिए। यदि इन सब बातों का ध्यान न रखा जायगा तो ठीक अर्थ तो निकलेगा ही नहीं, कभी कभी उलटा या बुरा अर्थ भी निकल सकेगा।



४

शब्द-प्रयोग

भाषा शब्दों से ही बनती है, इसलिए उसमें शब्दों का महत्व सबसे अधिक होता है। यों तो कोशों में एक-एक शब्द के कई-कई पर्याय मिलते हैं, परन्तु यदि आप ध्यान से देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि जो शब्द पर्याय-वाची या समानार्थी माने जाते हैं, उनमे भी प्रायः भाव की दृष्टि से कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। कुछ अवस्थाओं में आवश्यकता के अनुसार उनमें कुछ निश्चित अन्तर मान भी लिया जाता है। शब्दों के अर्थों और भावों में इसी प्रकार के अन्तरों के कारण भाषा में भाव व्यक्त करने की अधिक शक्ति आती है, वह अधिक व्यंजक और व्यापक होती है। उदाहरण के लिए सीधा-सादा 'मन' शब्द लीजिये। हिन्दी शब्दसागर में इसके दो पर्याय दिये हैं,—अन्तःकरण और चित्त। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मन, चित्त और अन्तःकरण तीनों का सब जगह और समान रूप से प्रयोग नहीं हो सकता। हम यह तो कहेंगे कि उन्होंने हमसे मन मोटा कर लिया; पर यह कभी न कहेंगे कि उन्होंने हमसे चित्त या अन्तःकरण मोटा कर लिया। हम यह तो कहेंगे कि हम सब बातों में अपने अन्तःकरण की आज्ञा मानते हैं; परन्तु यह कभी न कहेंगे कि हम सब बातों में अपने चित्त की आज्ञा मानते हैं। हम यह तो कहेंगे कि हमारा चित्त ठिकाने नहीं है, पर यह न कहेंगे कि हमारा अन्तःकरण ठिकाने नहीं है। सब जगह अलग-अलग अर्थ और अलग-अलग भाव हैं। ये तीनों तो संस्कृत के ही शब्द हैं। अब यदि हम इनके साथ इनके अँगरेजी और अरबी-फारसी आदि के पर्यायवाची वे शब्द भी ले लें जो हमारी भाषा में आकर मिल गये हैं, तो उनके भावों और प्रयोगों में और भी अधिक अन्तर दिखाई देगा। अच्छे लेखक लिखते समय शब्दों का चुनाव ठीक इसी दृष्टि और विचार से करते हैं।

पर अधिकांश लेखक इन बातों का बिना विचार किये जहाँ जो शब्द सामने आता है, वहाँ उसी का प्रयोग कर चलते हैं।

'प्रदान' शब्द का क्या अर्थ है? साधारणतः देने की क्रिया या दान ही इसका अर्थ है। परन्तु इस अर्थ के साथ इसमें एक भाव भी है। हम यह तो कहेंगे कि अमुक राजा ने पंडित जी को एक गाँव प्रदान किया। पर यह नहीं कहेंगे कि एक भिखारी ने राजा को आशीर्वाद प्रदान किया। क्यों? इसलिए कि प्रदान शब्द का प्रचलन उसी दान के लिये निश्चित हो चुका है जो बड़ों की ओर से छोटों को हो। छोटों की ओर से तो बड़ों को अर्पण या भेंट होती है। देश में प्रायः नित्य ही कहीं न कहीं बड़े-बड़े आदरणीय और मान्य व्यक्तिओं को अभिनन्दनपत्र और मानपत्र आदि दिये जाते हैं। परन्तु अधिकांश समाचार-पत्रों में उनके उल्लेख प्रायः इसी रूप में होते हैं—'आज वहाँ अमुक सज्जन को अभिनन्दनपत्र प्रदान किया गया।' 'कल वहाँ अमुक पंडित को मानपत्र प्रदान किया जायगा।' आदि। ऐसे लेखक यह जानते ही नहीं कि अर्पण और प्रदान के भावों में क्या अन्तर है; और इसी लिए वे अभिनन्दनपत्रों और मानपत्रों को भी पुरस्कारों और बख्शिशों के परिवार में ला रखते हैं। वे नहीं जानते कि अभिनन्दनपत्र और मानपत्र के साथ 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करके हम उन मान्य व्यक्तियों का कितना निरादर कर रहे हैं! हमने अनेक अवसरों पर भरी सभाओं में लोगों को उस समय भी 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करते देखा है, जिस समय मानपत्र बहुत आदरपूर्वक झुककर उन्हें अर्पित किया जाता है! बराबरवालों के लिये भी 'प्रदान' का प्रयोग ठीक नहीं है। यह कहना ठीक नहीं है—'सेना का एक अंग दूसरे को सहायता प्रदान कर रहा था।' पर सबसे बढ़कर पंडित वे होते हैं वो स्वयं अपने सम्बन्ध में भी 'प्रदान' शब्द का प्रयोग करने से नहीं चूकते। एक अवसर पर एक सज्जन ने लिखा था—'मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं संघ के कार्यों में सहयोग प्रदान कर सकूँ।' कितनी हास्यास्पद बात है! पर कैसी शान से कही गई है!

एक बार एक ऐसे सज्जन का प्रार्थनापत्र देखने को मिला था जो

हिन्दी के एम० ए० तो थे ही, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साहित्यरत्न भी थे। परन्तु अपनी इन योग्यताओं का उन्होंने इन शब्दों में उल्लेख किया था—"मैंने सन् १६३६ में सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा उत्तीर्ण की थी और गत वर्ष काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है।" लगभग उन्हीं दिनों हिन्दी की एक परम प्रतिष्ठित पत्रिका में किसी के परिचय के अन्तर्गत पढ़ा था—'आपने प्रथम श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की है।' तब से अब तक न जाने कितनी बार इस प्रकार के प्रयोग सामने आ चुके हैं। वस्तुतः होता तो है स्वयं मनुष्य किसी परीक्षा में उत्तीर्ण; परन्तु उसकी 'योग्यता' उससे स्वयं परीक्षाएँ ही उत्तीर्ण करा डालती है! ऐसे ही लोग आगे चलकर लिखने लगते हैं—'एक परीक्षा उत्तीर्ण करके अब उन्हें दूसरी का सामना करना पड़ा।'

कोई किसी सभा या संस्था की नियमावली बनाता है तो लिखता है—'मैंने इसका निर्माण किया।' कोई लिखता है—'उन्होंने बीसियों लेखकों का निर्माण किया।' और कोई पंचांग बनाता है तो उसमें अपने नाम के आगे 'निर्माता' लिखता है। कहीं कोई किसी पुस्तकमाला का प्रकाशन आरंभ करता है तो किसी समाचारपत्र में निकलता है—'अमुक सज्जन ने यह पुस्तकमाला स्थापित की है।' और कहीं चन्दा जमा होता है तो लिखा जाता है—'४० हजार रुपये संकलित हुए।' परन्तु उक्त उदाहरणों में निर्माण, निर्माता, स्थापित और संकलित शब्दों का ठीक प्रयोग नहीं हुआ है। लेखक शायद उनके ठीक ठीक अर्थ समझते ही नहीं। शब्द पढ़ते हैं किसी और प्रसंग में और उनका प्रयोग करते हैं किसी और प्रसंग में।

कोई लिखता है—'सरकार आपकी यह उक्ति मानने को तैयार नहीं है।' और कोई लिखता है—'सरकार आपको मुक्ति देने का विचार कर रही है।' कोई लिखता है—'वहाँ शैक्सपियर के नाट्य दृश्यों का प्रयोग होता है।' (अभिनय होना चाहिए) कोई लिखता है—'इस यंत्र की उत्पत्ति दो सौ वर्ष पूर्व हुई थी।' और कोई लिखता है—'भगवान् बुद्ध के सन्देशों से प्रभावित होकर बहुत से लोग उदासी बन गये थे।'

न हम 'उक्ति' का ठीक अर्थ समझते हैं, न 'मुक्ति' का। न 'प्रयोग'

का आशय समझते हैं, न 'उत्पत्ति' का। आज-कल चारों ओर 'सन्देशों' का ही राज्य है, इसलिए हम भगवान् बुद्ध के 'उपदेश' तो भूल जाते हैं और हमारे दिमाग़ में चक्कर खानेवाले 'सन्देश' बरबस हमारी कलम से निकल पड़ते हैं। हम यह भी नहीं सोचते कि बुद्ध के अनुयायी त्यागियों को क्या कहते थे; और 'उदासी' आज-कल किस सम्प्रदाय के साधु कहलाते हैं। हम जानते कुछ भी नहीं, पर लिखते हैं सब कुछ!

बहुत दिन हुए, स्व० द्विजेन्द्रलाल राय के एक नाटक के एक हिन्दी अनुवाद में एक वाक्य पढ़ा था। वह वाक्य एक वेश्या के मुँह से उस्ताद के प्रति कहलाया गया था और इस प्रकार था—'उस्ताद, मैं इस गाने की कसरत कर रही थी।' गाने की, और कसरत! लेखक महोदय यह तो जानते नहीं थे कि गाने के साथ पारिभाषिक शब्द 'रियाज' आता है। उनके सामने स्कूली लड़कों की कसरत आ गई और उसी से उन्होंने काम निकाल लिया। एक पुस्तक में पढ़ा था—'वह गीत की दो चार लड़ियाँ गाती…।' पर गीत की लडियाँ नहीं, कड़ियाँ होती हैं।

अर्थ का ध्यान रखे बिना लिखे हुए कुछ और वाक्य लीजिये।

१. उसने जालसाजी से चोरी की।
२. दोनों पुस्तकों में आपस में बहुत मेल है। (लड़ाई कब थी?)
३. अगर मैं गलती करूँ तो आप मुझे दुरुस्त कर दें। (लेकिन अगर कोई उन्हें ठीक अर्थ में दुरुस्त करने लगे तो शायद फौजदारी की ही नौबत आवे।)
४. इतने में गुरुदेव आकर हाजिर हुए। (यह बँगला की कृपा है।)
५. वह पतली आवाज से बोली।
६. ऐसी किंवदन्ती है कि प्राचीन काल में राजा लोग इसी दशहरे के दिन शत्रुओं पर चढ़ाई करते थे।
७. इस नाम का एक पुष्प पंजाब में प्रचलित है।
यह पक्षी जूलाई में हिमालय को लाँघना शुरू कर देता है।
६. श्री किदबई हृदय के पुराने रोगी हैं।
१०. अब तो रुक-रुक कर बरसात होने लगी है।

११. अनेक विषयों का साहित्य उसकी मेज पर **विराजमान** होने लगा।

१२. विद्वानों से मिलने की भी उन्हें कोई **बेचैनी** नहीं थी।

१३. उन्होंने कई **मँहगे ग्रन्थ** खरीदे थे।

१४. वहाँ **भारी-भरकम** भीड़ जमा थी।

कन्या के विवाह के सम्बन्ध में जो निमन्त्रण-पत्र अपने सम्बन्धियों और इष्ट-मित्रों के यहाँ भेजे जाते हैं, उनमें प्रायः लिखा रहता है—'हमारी सौभाग्यवती कन्या......का शुभ विवाह......।' ऐसा लिखनेवालों को जानना चाहिए कि कुमारी कन्या के लिए 'सौभाग्यवती' शब्द का प्रयोग अनुचित है। वह सौभाग्यवती तो तब होती है, जब उसका विवाह हो जाता है। विवाह से पहले आप उसके लिए और किसी (जैसे सौभाग्यकांक्षिणी) विशेषण का प्रयोग कर सकते हैं, पर 'सौभाग्यवती' का नहीं। इसी प्रकार निमंत्रण-पत्र में यह लिखना भी ठीक नहीं है—"मेरे सुपुत्र (अथवा सुपुत्री) का विवाह.........।"

ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि हिन्दी के बहुत-से लेखक शब्दों और उनके अर्थों आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। खेद, दुःख और शोक के भेद समझनेवाले और वे भेद समझकर अवसर के अनुसार उपयुक्त शब्द का प्रयोग करनेवाले कितने लेखक हैं? शायद बहुत थोड़े। कोई अपने पत्र का उत्तर न पाकर ही शोक प्रकट करने लगता है और कहीं अधिकारियों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध पर शोक प्रकट किया जाता है। कोई किसी के भाई के मरने पर भी केवल खेद प्रकट करके रह जाता है। कोई किसी से भेंट न कर सकने के कारण ही दुःखी होने लगता है। हाँ, भाषा जोरदार बनाने के फेर में सभी रहते हैं और इसके लिए बड़े बड़े विशेषणों का प्रयोग करने में नहीं चूकते। कुछ उदाहरण लीजिये—

१. साहित्य और जीवन का **घोर** सम्बन्ध है।

२. विक्रम संवत् के सम्बन्ध में विद्वानों में **घोर** मतभेद है।

३. उनके **घोर** आग्रह करने पर ही वह पत्र लिखा गया था।

४. आटे का भाव बहुत **गम्भीर** रूप धारण कर रहा है।

५. उनकी मृत्यु के समाचार से नगर में **भीषण** शोक छा गया।

६. राजनीतिक परिस्थिति ने देश में **भीषण** निराशा उत्पन्न कर दी।

७. वे दान देने में **विकट** रूप से प्रसिद्ध थे।

८. उनकी **उग्र** गम्भीरता देखकर सब लोग चकित हो गये।

९. ब्रिटिश सैनिकों ने उस अवसर पर **भयानक** सहन शक्ति का परिचय दिया।

उन्नति के इस युग में जहाँ लोगों के सामने अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं, वहाँ हिन्दी जगत् में स्वयं 'प्रश्न' शब्द भी एक प्रकार का विकट प्रश्न बन गया है। जिसे देखिये, वही मौके वे मौके 'प्रश्न' शब्द का प्रयोग करता है। जैसे—'गजी के उन थानों में कबीर की रोटी का प्रश्न था।' यह प्रश्न उस समय और भी बेढब हो जाता है, जब इसके साथ 'को लेकर' लगा दिया जाता है। जैसे 'वे भारत के प्रश्न को लेकर चुनाव के लिए खड़े हुए हैं।' 'दक्षिण अफ्रिका में भारतीयों के प्रश्न को ले कर हलचल मची है।' आदि आदि। स्वयं 'प्रश्न' का प्रयोग बहुत समझ बूझकर होना चाहिए, और उसके साथ यह 'को ले कर' तो बिलकुल छोड़ ही दिया जाना चाहिए।

एक साधारण शब्द है 'और' जिसका राजस्थानी आदि कुछ प्रान्तीय बोलियों में अर्थ होता है 'अतिरिक्त' या 'ऊपर से।' जैसे 'यह घोड़ी लंगड़ी तो है ही, कानी और है।' परन्तु इस अर्थ में 'और' का प्रयोग बिलकुल स्थानिक है। पर अब कुछ लोग शिष्ट हिन्दी में भी इसका प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'हमारे समुद्र पार के उपनिवेश और लौटाओ।' इस अर्थ में 'और' का यह प्रयोग भी खटकनेवाला है और कुछ अवसरों पर भ्रामक हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार का खटकनेवाला और भ्रामक प्रयोग 'मना' शब्द का भी होने लगा है। साधारणतः 'मना' शब्द का वही अर्थ है जो हमारे यहाँ के 'वर्जन' का है। कुछ स्थानों में वह अस्वीकृति या इनकार के अर्थ में भी बोला जाता है। पर अब कुछ लोग साहित्य में भी उसका प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—

'उनसे सभापति होने के लिए प्रार्थना की गई थी, पर उन्होंने मना कर दिया।'

'सभा से कई बार द्विवेदी जी की सामग्री दिखलाने के लिए कहा गया पर, उसने मना कर दिया।'

उक्त दोनों ही उदाहरणों में लेखकों का ठीक ठीक आशय प्रकट नहीं होता। इनमें 'मना' शब्द का ठीक अर्थ में और ठीक अवसर पर व्यवहार नहीं हुआ है। अब एक और उदाहरण है। मान लीजिये कि हम कहते हैं—'वे तो मुझे भी बुलाना चाहते थे, पर मैंने मना कर दिया।' अब आप इसका क्या अर्थ समझेंगे? यही न कि मैंने उनसे कह दिया कि तुम मुझे मत बुलाओ! अर्थात् मैंने उन्हें बुलाने से ही रोक दिया। इस वाक्य से सहसा कोई यह अर्थ नहीं समझ सकता कि मैंने स्वयं ही वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। ऐसी अवस्था में 'मना' शब्द का इस तरह का प्रयोग भ्रामक होगा।

'सहित' और 'के साथ' आदि का भी हिन्दी में बिना समझे बूझे प्रयोग होता है। जैसे 'आप का पत्र धन्यवाद सहित मिला।' 'आपकी पुस्तक धन्यवाद-सहित लौटाता हूँ।' 'मनुष्य सुरक्षा-सहित अपने घर में रह सके।' कोई चीज धन्यवाद सहित पाने या लौटाने का सीधा-सादा अर्थ तो यही होता है कि उसके साथ 'धन्यवाद' भी मिला या लौटाया जा रहा है। ऐसे अवसरों पर सहित की जगह 'पूर्वक' का प्रयोग ठीक होगा। यही बात 'के साथ' के सम्बन्ध में भी है। 'वे धैर्य के साथ अपना काम कर रहे हैं।' 'उन्होंने बड़ी सरलता के साथ उत्तर दिया।' 'वे लगन के साथ देश की सेवा कर रहे हैं।' आदि वाक्यों में 'के साथ' का प्रयोग दूषित और त्याज्य है। इसी प्रकार नीचे के वाक्यों में 'के द्वारा' का प्रयोग भी दूषित और त्याज्य हैं।

१. लड़ाई के द्वारा लोगों ने खूब धन कमाया।
२. यह बीमारी अकाल के द्वारा फैली थी!
३. उन्होंने अपनी पुस्तक के द्वारा खूब प्रसिद्धि पाई थी।
४. अधिकारियों के द्वारा देश में बहुत आतंक फैल रहा था।
५. जनरल बेक द्वारा आत्म-हत्या आदि।

यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि यह 'के साथ' अंगरेजी के 'विद्' (with) से और 'के द्वारा' अंगरेजी के 'थ्रू' से (through) से आता है और हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। आजकल कुछ लोग ऐसे स्थलों पर भी अँगरेजी के 'बिकाज' (because) के कारण 'क्योंकि' का प्रयोग करते हैं, जहाँ केवल 'कि' का प्रयोग होना चाहिए। जैसे—

१, मैं इसी लिये बोला, क्योंकि मैं समझता था।

२. पाँच व्यक्तियों को इस कारण कठोरावास का दंड मिला, क्योंकि...

३. मैं इसलिए वहाँ नहीं गया था, क्योंकि............।'

४. पैसा इसलिए नहीं है, क्योंकि लोग बे-रोज़गार हैं।

एक और शब्द है जिसका बहुत अधिक भ्रमपूर्ण प्रयोग देखने में आता है। वह शब्द है 'बड़ा।' यह शब्द विशेषण है, पर जिसे देखो, वह इसका व्यवहार क्रिया विशेषण के रूप में ही करता है। 'वह बड़ा चालाक है।' 'इस काम में बड़ा लाभ है। 'आपने बड़ा अच्छा काम किया।' 'उससे हमें बड़ा सहारा मिला।' 'वहाँ बड़ा भारी भूकंप आया।' 'वे बड़े भारी कवि थे।' 'यह पुस्तक बड़ी सुन्दर है।' 'उनका बड़ा भारी सम्मान हुआ।' आदि अनेक प्रयोग नित्य सामने आते हैं। इन सभी अवस्थाओं में 'बड़ा' की जगह 'बहुत' होना चाहिए।

बहुत से लोग 'कारण' और 'हेतु' में कोई अन्तर नहीं समझते। यह ठीक है कि 'हेतु' का एक अर्थ 'कारण' भी होता है, पर उसका वह अर्थ गौण है। 'हेतु' का मुख्य अर्थ है—'वह उद्देश्य जिससे कोई कार्य किया जाय।' कोई कार्य करने का प्रेरक भाव या अभिप्राय ही मुख्यतः हेतु कहलाता है। एक समाचार पत्र में एक जज की सम्मति इस रूप में छपी थी—'हर तीसरा विचाराधीन मामला या तो गुजारे की नालिश का होता है और या उसका हेतु प्रायः पति-पत्नी का विग्रह होता है।' यहाँ 'हेतु' शब्द 'कारण' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो ठीक नहीं है। इस वाक्य की रचना से यह आशय निकलता है कि हर तीसरे मामले का उद्देश्य ही यह होता है कि पति और पत्नी में विग्रह हो। अर्थात् दोनों में लड़ाई कराने के लिए ही कोई मामला खड़ा किया जाता है। पर बास्तव में बात ऐसी नहीं है। पति-पत्नी में विग्रह पहले होता है और तब उस विग्रह के कारण अदालत में मामला जाता है। अतः उक्त वाक्य में 'हेतु' के स्थान पर 'कारण' होना चाहिए था।

साधारणतः लोग यही समझते हैं कि 'पीछे' और 'बाद' या 'उपरान्त' में कोई अन्तर नहीं है। ऐसे ही लोगों में से एक सज्जन ने एक बार लिखा

था—'दो दिन की बदली के पीछे आज सूरज निकला है।' स्पष्ट है कि यहाँ 'पीछे' की जगह बाद या उपरान्त होना चाहिए था। यही बात 'भागना' और 'दौड़ना' के सम्बन्ध में भी है। दोनों में बहुत अन्तर है। 'भागना' प्रायः किसी प्रकार की आशंका या भय आदि के कारण होता है, पर 'दौड़ना' में यह बात नहीं होती। यह कहना गलत है, 'लड़का मिठाई ले कर भागा हुआ घर आया।' इसका अभिप्राय यह होगा कि कोई उसका पीछा कर रहा था या उसे दौड़ा रहा था। हाँ, यह कहना ठीक है—'शत्रु मैदान से भाग खड़ा हुआ।' यहाँ 'दौड़ खड़ा हुआ' नहीं कहा जायगा। इसके सिवा 'भागना' का एक और अर्थ है—'जी चुराना' या 'जान बचाना' जो 'दौड़ना' का नहीं है। हम यह तो कह सकते हैं—'वह काम करने से भागता है।' पर यह नहीं कह सकते—'वह काम करने से दौडता है।' पर कुछ लोग अन्तर न समझकर दोनों शब्दों के मनमाने व्यवहार करते हैं।

.हमारे यहाँ के कुछ लेखक और सम्पादक तो इतने भोले हैं कि वे 'संसार' या 'जगत' और 'विश्व' तक का अन्तर नहीं समझते। कुछ प्रमाण लीजिये:—

१. वर्तमान महासमर विश्व की सर्व-प्रमुख समस्या है।
२. विश्व के प्रथम कोटि के विचारक यहाँ तक कहने लगे हैं कि.......
३. यह आवश्यक है कि वे विश्व के सम्मुख भारत के मामले में अपनी सफाई पेश करें।

जिन्हें यह भेद बतलाया जाना चाहिए, वे शायद 'आंग्ल भाषा' के द्वारा बतलाई हुई बातें ही अधिक अच्छी तरह समझते हैं, अतः उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ केवल वर्ल्ड (world) से अभिप्राय हो, वहाँ जगत या संसार का प्रयोग होना चाहिए। 'विश्व' का प्रयोग वहीं हो, जहाँ 'युनिवर्स' (universe) से अभिप्राय हो।

हिन्दी में 'आयु' और 'अवस्था' के अर्थों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रायः किसी का परिचय देते समय लोग कहते हैं—'इस समय आपकी आयु ४० वर्ष की है।' बालकों के एक मासिक पत्र में एक बार एक बालक की कविता छपी थी। उसी के साथ उसका चित्र और नाम

भी छपा था। नाम के नीचे कोष्टक में लिखा था—'आयु १२ वर्ष।' वैद्यों से आशा की जाती है कि वे 'आयु' और 'अवस्था' का ठीक-ठीक भेद समझते हैं। परन्तु औषधियों की पुरजियों तक पर नाम और जाति आदि के साथ एक खाना होता है जिस पर लिखा रहता है 'आयु'। वास्तव में आयु समस्त जीवन-काल को कहते हैं। जन्म से मरण तक का सारा समय आयु है। अवस्था या उमर इससे अलग चीज है[1]। उक्त उदाहरणों में सब जगह 'आयु' के स्थान पर 'अवस्था' या 'उमर' होना चाहिए।[2]

इस विषय का विशेष विस्तार न कर के हम यहाँ कुछ ऐसे युग्म शब्दों की सूची दे देना ही पर्याप्त समझते हैं, जिनके प्रयोग में लोग प्रायः भूल करते हैं।

खोदना	उखाड़ना	लटकाना	टाँगना
बनाना	गढ़ना	सोना	लेटना

---

१ हमारे एक मान्य मित्र का कहना है कि संस्कृत में भी 'आयु' शब्द दोनों ही अर्थों में व्यवहृत हुआ है। प्रमाण-स्वरूप उन्होंने दो श्लोक भी सुनाये थे जिनमें से एक में आयु शब्द पूर्ण जीवन-काल के लिये और दूसरे में वय, अवस्था या उमर के लिए प्रयुक्त हुआ था। पर हमें संस्कृत कोषों में इसका एक ही अर्थ 'समस्त जीवन काल' मिला। सम्भव है, किसी संस्कृत कवि ने भूल से वय या अवस्था के अर्थ में उसका प्रयोग किया हो। और यदि हम यह भी मान लें कि आयु के दोनों ही अर्थ होते हैं, तो भी 'आयु' का व्यवहार समस्त जीवन-काल के लिए ही अधिक प्रशस्त जान पड़ता है। आखिर दोनों भाव प्रकट करने के लिए हमें अलग-अलग शब्दों की आवश्यकता तो है ही।

२ लेखक बहुत दिनों से एक ऐसे शब्द-कोष की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है जिसमें प्रायः सभी मुख्य-मुख्य शब्दों के ठीक प्रयोग बतलाये जायँ और मिलते-जुलते शब्दों से उनका अन्तर बतलाया जाय। यदि परिस्थिति अनुकूल हुई और शारीरिक शक्ति ने और कुछ दिनों तक साथ दिया तो उसका श्री-गणेश तो कर ही दिया जायगा। फिर उसकी पूर्ति ईश्वर के हाथ रहेगी।

लोटना	लेटना	खेलाना	खिलाना
गोल	वर्तुल	उछलना	कूदना
प्रयोग	व्यवहार	उत्तेजन	प्रोत्साहन
आदर्श	दृष्टान्त	अलभ्य	अप्राप्य
स्वीकार	स्वीकृति	आँधी	तूफान
बलवान	प्रबल	सन्देह	आशंका
तात्कालिक	तत्कालीन	निरर्थक	व्यर्थ[1]

हिन्दी में एक और प्रकार के युग्म शब्द होते हैं, जिनमें परस्पर नित्य-सम्बन्ध रहता है। यदि उनमें से एक शब्द पहले किसी वाक्यांश में आवे, तो उसके बादवाले वाक्यांश में उसके जोड़ का दूसरा शब्द रखना भी आवश्यक होता है। जैसे: 'यदि—तो', 'यद्यपि—तथापि,' 'जैसे—वैसे,' 'चाहे-पर या परन्तु' आदि। इनके व्यवहार में भी लोग बहुत असावधानी करते हैं। उदाहरणार्थ—'जैसे इनमें कुछ निकटता जरूरी है, उसी प्रकार कुछ दूरी भी।' 'चाहे आप नाराज हो जायँ, मैं यह बात नहीं मान सकता।' इस प्रकार के वाक्यों में भी खटक होती है। अतः नित्य-सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग करते समय लेखकों को बहुत सावधान रहना चाहिए।

अब हम शब्दों के दुरुपयोग का एक दूसरा प्रकार लेते हैं। कुछ लोग केवल अपना पांडित्य दिखलाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं जिनके अर्थ वे बिलकुल नहीं जानते। एक बहुत पुराने और प्रतिष्ठित लेखक ने एक बार अपने एक उपन्यास में नायक के मुँह से नायिका के प्रति कहलाया था—'तुम बहुत लजीज हो।' वे अरबी-फारसी या उर्दू तो बिलकुल नहीं जानते थे, फिर भी यह जतलाना चाहते थे कि मैं अरबी-फारसी के शब्दों से अपरिचित नहीं हूँ। वे यह तो जतला गये कि मैं 'लजीज' शब्द भी जानता हूँ; पर साथ ही यह भी जतला गयें कि 'लजीज' का ठीक अर्थ मैं नहीं जानता। लजीज का अर्थ है स्वादिष्ट; और उसका व्यवहार

१. सन्देह, आशंका, शामिल, शरीक, और संयोगवश आदि कुछ शब्दों के भ्रमात्मक प्रयोगों के उदाहरण 'अर्थ, भाव और ध्वनि' तथा 'समाचारपत्रों की हिन्दी' शीर्षक प्रकरणों में देखिये।

केवल खाने-पीने की चीजों के सम्बन्ध में होता है। जैसे—पुलाव बहुत लजीज बना था। किसी स्त्री को 'लजीज' कहना मानों उसे भी खाद्य पदार्थों में रखना है। बम्बई के भीषण विस्फोट और अग्नि-कांड के सम्बन्ध में एक समाचारपत्र में पढ़ा था—'मकानों में से अभी तक धूएँ के अम्बार निकल रहे हैं।' एक कहानी में पढ़ा था—'घड़ों और मटकों में घी और चीनी के अम्बार लगे थे।' एक सज्जन ने अपनी एक पुस्तक में लिखा था—'मेरी तबियत नाशाद थी।' (मतलब था—नासाज थी)। एक दैनिक पत्र में पढ़ा था—'अमेरिकनों की पहलूदही।' और यह 'पहलूदही' भी ठीक 'पहलूतही' के अर्थ में नहीं, बल्कि किसी और अर्थ में आई थी। एक और समाचारपत्र में छपा था—'सुनहले रुपहले काबुकों की जमात में...........।' एक मासिक पत्र में पढ़ा था—'वहाँ बात-चीत में वक्ता को नाज-नखरा जाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता था।' 'लाठी-शुदा' और 'सनद-शुदा' का जिक्र एक और प्रसंग में आगे आवेगा। एक साप्ताहिक में छपा था—'जब तक मि० चर्चिल और एमरी का जबानी घोड़ा मुबारक है......।' ('मुबारक' की जगह 'सलामत' होना चाहिए।) एक नये बड़े लेखक ने अपने बड़े-बड़े उपन्यासों को मानों इस प्रकार की भूलों की प्रदर्शिनी ही बना रखा है। सिद्धांत सदा यह होना चाहिए कि हम जिस शब्द का प्रयोग करें, पहले उसका ठीक अर्थ समझ लें। बिना समझे-बूझे शब्दों का प्रयोग करना मानों दुनियाँ को अपना तमाशा दिखाना है।

आज-कल लेखों आदि में अँगरेजी शब्दों के बेधड़क प्रयोग करने की प्रथा भी खूब चल रही है। विशेषता यह है कि ऐसे प्रयोग करनेवाले शब्दों के आगे उनकी व्याख्या करने की भी आवश्यकता नहीं समझते। मानों वे यह मान लेते हैं कि हमारी ही तरह हमारे पाठक भी इन शब्दों के अर्थ जानते हैं और ये शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत आ गये हैं। कुछ ऐसे साहसी लोग भी हैं जो अँगरेजी भाषा से नितान्त अपरिचित होने पर भी सिर्फ देखा-देखी और आज-कल का फैशन समझकर ऐसे शब्दों के प्रयोग करते हैं। कुछ उदाहरण लीजिये —

१—हम टेकनीक की इस थ्योरी पर विश्वास नहीं करते।

२—मोटर कार का टायर वर्स्ट हो गया।
३—ये सब ग्रन्थ क्लासिक माने जाते हैं।
४—उन पर इन बातों का हिस्टरिक प्रभाव पड़ा।
५—हमें चाहिए कि हम अपने साहित्य की स्पिरिट समझें।
६—यह वेस्टर्न पेनिन्सुला में नासिक से उत्तर सरकार तक होता है।
७—उन्होंने सीलोन से लोअर ब्रह्मा तक यात्रा की थी।
८—स्थान के प्रोपोर्शन का सौन्दर्य बिगड़ गया।

हमने अच्छे-अच्छे लेखकों को अपने वाक्यो में एक्सकांड, फारमैलिटी, म्यूजिक, स्कीमिंग, प्रोग्रेस, एटिकेट, एक्सिडेन्ट आदि शब्दों का प्रयोग करते देखा है; और वह भी कभी-कभी रोमन' लिपि में। एक अच्छी पुस्तक में पढ़ा था—'यह ग्रन्थ उससे कम अच्छा और inferior मान लिया गया था।' अपना अँगरेजी ज्ञान प्रकट करने के लिए इस प्रकार के जो शब्द वाक्यों में लाये जाते हैं, वही प्रकारान्तर से लेखक की अयोग्यता और अज्ञान प्रकट करते और उन्हें हास्यास्पद बनाते हैं।

शब्दों के प्रयोग के समय एक और बात का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है। लिखते समय प्रायः लोगों को समस्त पद बनाने पड़ते हैं। आज-कल संकर समास की प्रवृत्ति बहुत बढ़ती हुई दिखाई देती है। संकर समास उसे कहते हैं जिसमें एक शब्द एक भाषा का हो और दूसरा शब्द दूसरी भाषा का। प्रायः सभी भाषाओं में इस प्रकार के समस्त पद होते हैं, पर बहुत कम। हमारे यहाँ ऐसे पद मूलतः बहुत कम थे; परन्तु उर्दू की कृपा से उनकी संख्या कुछ बढ़ गई है। उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों की ही अधिकता है। अतः उसमें इन दोनों भाषाओं के योग से बहुत से संकर समस्त पद बन गये हैं। जैसे, खिदमतगार, खैरख्वाह, खबरदार, गरीब-परवर, गलत-फहमी आदि। इसका कारण यही है कि जिन लोगों ने ऐसे संकर समस्त शब्द बनाये हैं, वे अपने आपको अरब और फारस दोनों के सांस्कृतिक उत्तराधिकारी समझते हैं। वे लोग अरबी शब्दों के बहुवचन फारसी व्याकरण के नियमों के अनुसार और फारसी शब्दों के बहुवचन अरबी नियमों के अनुसार भी बना लेते

है। हमारे प्रान्त में 'अंजुमन हिमायते **चपरासियान**' तक बनी है! यह ठीक है कि फारसवाले आर्य हैं और अरबवाले सेमेटिक; परन्तु धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अरब और फारस के लोग आपस में मिलकर बहुत कुछ एक हो गये हैं और इसी लिए फारस की भाषा में ऐसे संकर समास बहुत अधिक हो गये हैं। प्रायः वे सभी समास उनके वंशज और प्रतिनिधि बननेवालों ने अपनाकर उर्दू में ले लिये और बहुत-से शब्द अपनी तरफ से भी गढ़ लिये। उनमें से कुछ शब्द हमारी हिन्दी में भी आकर मिल गये। इसके बाद उर्दूवालों ने एक और प्रकार के संकर समासों का आश्रय लिया। वह था हिन्दी और उर्दू के शब्दों का मेल। समझदार, हथियारबन्द, दिल्लगी, गरमाहट और कमीनापन आदि इसी प्रकार के शब्द हैं जो हमारी भाषा में घुल-मिल गये हैं। बहुत कुछ यही बात 'जेलखाना' के सम्बन्ध में भी है।

आगे बढ़ने से पहले हम एक और बात बतला देना चाहते हैं। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो अपनी बनावट के कारण ही अपनी मूल भाषा की छाप से बहुत कुछ बचे हुए होते हैं; जैसे—काम, मन, कल, रेल, कम आदि। इसी प्रकार कुछ प्रत्यय भी होते हैं; जैसे—पन, कार आदि। ऐसे शब्दों और प्रत्ययों आदि में अपनी सरलता के कारण यह एक बहुत बड़ा गुण होता है कि वे सहज में दूसरी भाषा में मिल जाते हैं। 'रेल-गाड़ी' शब्द देखकर सहसा कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें का 'रेल' शब्द हमारे यहाँ का नहीं है। फारसी के 'दार' और 'बन्द' आदि कुछ प्रत्यय भी ऐसे ही हैं; और यही कारण है कि वे हमें परकीय नहीं जान पड़ते। उधर 'पन' आदि कुछ हिन्दी प्रत्यय भी अन्य कुछ कारणों के अतिरिक्त उक्त कारण से भी उर्दूवालों को अपने ही जान पड़ते हैं। यमक और अनुप्रास भी ऐसे तत्त्व हैं जो कभी-कभी संकर समासों की खटक बहुत कम कर देते हैं। इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि जिन शब्दों के रूप या बनावट कुछ विशेष प्रकार की और सरल होती है, वे सहज में दूसरी भाषाओं में खप जाते हैं और इसी लिए वे जल्दी किसी को खटकते नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि आज-कल हिन्दी में

जो संकर समस्त पद बनते हैं, वे ठीक नहीं हैं। हिन्दी और संस्कृत में उतना अधिक वैषम्य नहीं है, जितना हिन्दी और अरबी-फारसी में है। रणखेत या पूँजीपति ऐसे शब्द हैं जिनमें कुछ खटक जरूर है, पर बहुत अधिक नहीं है। अब हम आधुनिक हिन्दी लेखकों के प्रयुक्त किये हुए कुछ ऐसे शब्द बतलाते हैं जिनमें बहुत अधिक खटक है। शीशा-विशेषज्ञ, पैमाइश-प्रबोध, नन्दन-चमन, सान्ध्य पोशाक, सामानवाही-विमान, युद्ध-सामान, नेतागिरी, वर्दी-धारी, पिस्तौल-वाहक, सड़क-निर्माण, गोली-कांड, पूँजीवाद, बहु-खर्चीलापन, कांग्रेसांक, सुलह-समिति, बाढ़-पीडित, अछूतोद्धार, झंडाभिवादन, जाँचकर्त्ता आदि ऐसे शब्द हैं जो सुनते में बहुत खटकते हैं। आप कह सकते हैं कि सड़क-निर्माण, गोली-कांड और पूँजीवाद भी तो वैसे ही हैं, जैसे रणखेत और पूँजीपति हैं। पर नहीं, इनमें कुछ अन्तर है। रण और खेत, पूँजी और पति ऐसे शब्द हैं जो आपस में किसी तरह मिल सकते हैं; पर सड़क और निर्माण, गोली और कांड, कांग्रेस और अंक ऐसे शब्द नहीं हैं। इन सबका योग श्रुतिमधुर नहीं है। इन सबकी प्रकृति भी एक-सी नहीं है। जो बात सुनने में भली न मालूम हो और जिसमे प्रकृतिगत साम्य न हो, वह खटकेगी और अवश्य खटकेगी। इस सम्बन्ध में मुख्य सिद्धान्त यही है कि जो शब्द हमारी भाषा में आकर अच्छी तरह रच-पच गये हैं, और जिन पर से परकीयतावाली छाप बिलकुल मिट चुकी है, अथवा जिन पर परकीयता की कोई छाप है ही नहीं, उनके समास ही खटक से खाली होंगे।

आज-कल की यह दूषित प्रवृत्ति संज्ञाओं और विशेषणों तक ही परिमित नहीं है और न संस्कृत तथा अरबी-फारसी तक ही सीमित है। अब तो भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रत्यय और उपसर्ग आदि भी बिना किसी विचार के आपस में जोड़े जाने लगे हैं। कुछ उदाहरण लीजिये—

लबे-खिड़की, असरकारक, उथल-पुथलमय, सह-मालिकाना, कामकाज-हीन, गैर-बौद्ध, अमेरिकास्थ, धोखाजनी, खोजपूर्ण, खोजानुसार, मुसलमानत्व, कट्टरता, सुघरता, अपनत्व, पटना-जिलान्तर्गत और श्रीमन्मास्टर साहबेषु आदि। यह प्रवृत्ति कभी शुभ नहीं कही जा सकती।

संस्कृत का एक शब्द है 'संघट्टन' जिसे कुछ सतर्क लेखक 'संघटन'

लिखते हैं, पर अधिकतर लोग 'संगठन' लिखते हैं। यहाँ तक कोई हर्ज नहीं है। पर कठिनता तो यह है कि उस 'संगठन' से 'संगठित' और 'संगठनात्मक' आदि विशेषण भी बनने लगते हैं। संस्कृत का प्रसिद्ध शब्द 'प्रकट' यदि हिन्दी में 'प्रगट' तक लिखा जाय तो ठीक ही है। पर यदि उस 'प्रगट' से 'प्रागट्य' भी बनने लगे तो क्या कहा जाय ? कोई अपनी पुस्तक के नये संस्करण को उसका 'सुधारित रूप' बतलाता है और कोई किसी की धृष्टता देखकर 'अचंभित' होता है। इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का यह फल है कि पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के एक दवाखाने ने अपने यहाँ के एक नेत्र-उपचार का नाम रखा है—'ऐनक-तोड़ साधन'। यदि यह प्रवृत्ति बढ़ती गई तो पुस्तकों का 'छापित' रूप भी दिखाई देने लगेगा, 'जहाजाक्रमण' भी होने लगेगा और 'आपका कृपानामा दस्तगत हुआ।' सरीखे ऐसे वाक्य भी बनने लगेंगे, जिनकी कल्पना स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने केवल परिहास में की थी।

इसी प्रकार का एक शब्द है 'तोड़क' जो शायद पहले-पहल लाहौर के जात-पाँत तोडक मंडल की कृपा से चला था। यह तो हमें नहीं मालूम कि वह मंडल जाति-पाँति के बन्धन तोड़ने में कहाँ तक सफल हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी व्याकरण के कुछ नियमों की मर्यादा तोड़ने में वह अवश्य सफल हुआ है। अब यदि इसी प्रकार आगे चलकर छोड़क, मोडक, फोडक आदि शब्द भी बनने लगें तो कहाँ ठिकाना लगेगा ? यदि 'बीमा-पड़तालक' आदि कुछ और शब्द भी उसके अनुकरण पर बनने लगे हैं। कोई 'पड़तालक' के ढंग पर 'हड़तालक' भी लिखने लगेगा तो उसे कौन रोकेगा ? इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि बढ़ती जायगी तो भाषा के भद्देपन का कहीं अन्त न रहेगा। यह ठीक है कि संस्कृत और हिन्दी का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है और हमने अधिकांश बातें संस्कृत से ही ली हैं, फिर भी कहीं सीमा तो होनी ही चाहिए। और यह सीमा निश्चित करना बड़े बड़े विद्वानों का ही काम है। सामान्य लेखकों को तो सदा सीमा के अन्दर ही रहना चाहिए।

सभी भाषाओं में आवश्यकतानुसार कुछ शब्द, कुछ प्रयोग और कुछ नियम औरों से लिये जाते हैं। पर वे सबके सब चल नहीं पड़ते। उनमें से जो बातें ग्रहण करनेवाली भाषा की प्रकृति के अनुकूल होती हैं, वही चलती

हैं, बाकी की बातें या तो छूट जाती हैं या दूषित समझी जाती हैं। बहुधा सुयोग्य भाषाविद् पंडित समझ-बूझकर जो शब्द चलाते हैं, अधिकतर वही चलते हैं। साधारण लोगों के चलाये हुए कुछ शब्द भी अवश्य चल जाते हैं, परन्तु इस वर्ग में वही शब्द आते हैं जो ग्राहक भाषा की प्रकृति के अनुकूल होते हैं। स्व० लोकमान्य तिलक ने एक शब्द चलाया—'नौकरशाही' जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आप-से-आप चल गया। परन्तु ऊपर जो भद्दे यौगिक तथा और प्रकार के शब्द उदाहरण-स्वरूप दिये गये हैं, वे अधिकतर सामान्य लेखकों की कलम से और वह भी नितान्त असावधानता के कारण ही निकले हैं। वे सब शब्द गढ़नेवाले अधिकतर लोग ऐसे ही हैं जो भाषा-विज्ञान के तत्त्व और स्वयं अपनी भाषा की प्रकृति नहीं जानते। और उनकी देखा-देखी उन्हीं की कोटि के नये अनजान लेखक भी उन शब्दों के प्रयोग कर चलते हैं; और कभी-कभी स्वयं भी उन्हीं के ढंग पर नये शब्द बनाने लगते हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार के अधिकांश शब्दों की आयु बहुत थोड़ी होती है और वे जल्दी ही मर जाते हैं; फिर भी यह प्रवृत्ति बहुत ही घातक है। नये तथा सामान्य लेखकों को इससे सदा बचना चाहिए।

ऊपर 'जेलखाना' और 'तोडक' का जिक्र आया है, इसलिए एक दो बातें और याद आ गईं। जिस समय उर्दूवालों ने 'जेलखाना' बनाया था, उससे बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'बन्दीखाना' शब्द बनाया था। यथा—

रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बन्दीखाना॥

परन्तु 'जेलखाना' में कोई खटक नहीं थी; इसलिए वह चल गया, पर 'बन्दीखाना' में खटक थी, इसलिए वह नहीं चला। इसी प्रकार जिस समय जात-पाँत तोड़क मंडल ने 'तोड़क' शब्द बनाया था, उससे बहुत पहले स्व० बा० जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' ने आज-कल के 'जाँचकर्ता' की तरह का 'जाँचक' शब्द बनाया था। यथा—

सुकवि प्रसंसनीय विधि भलहि नियम बहु तोरहिं।
करहिं दोष जिहि सोधन सद् जाँचक साहस नहिं॥

और उनसे भी बहुत पहले गोस्वामी तुलसीदास जी ने बेचनेवाले के अर्थ में 'बेचक' शब्द का प्रयोग किया था । यथा—

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहिं मान नियम अनुसासन ॥

परन्तु यह स्पष्ट है कि 'जाँचक' और 'बेचक' शब्द हिन्दी में नहीं चले । इसका मुख्य कारण यही है कि ये शब्द हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं थे और इनमें कुछ खटक थी । इसके सिवा इनका व्यवहार कविता में हुआ था; और ये कवियों के विशेषाधिकार की छाया में रहने के कारण उतने आपत्तिजनक भी नहीं हैं ।

यहाँ प्रसंग आ गया है, इसलिए हिन्दीवालों की इसी से मिलती-जुलती एक और नई प्रवृत्ति का उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है । वह प्रवृत्ति है संस्कृत के विशेषणों में संस्कृत के ही दूसरे प्रत्यय आदि लगाकर उनसे डबल विशेषण बनाने की । संस्कृत का 'एकत्र' शब्द वस्तुतः अव्यय है और उसका व्यवहार विशेषण के समान होता है ; परन्तु जिसे देखिये, 'एकत्रित' ही लिखता दिखाई देता है । मानो शुद्ध रूप 'एकत्र' हिन्दी से उठ ही गया है । ऐसे लोग भी हैं जिनका केवल 'निर्दय' से संतोष नहीं होता और जो 'निर्दयी' लिखते हैं । यद्यपि 'चारुताई' 'बहुताई' और 'सुन्दरताई' आदि से हमारा पीछा छूट चला है, पर साफल्य या सफलता की जगह 'साफल्यता' 'साहाय्य' की जगह 'साहाय्यता' और 'ऐक्य' की जगह 'ऐक्यता' लिखनेवाले भी वैमनस्य भाववाचक संज्ञा है, पर लोग उससे भी 'वैमनस्यता' बनाते हैं । यही बात 'मान' के सम्बन्ध में भी है । उससे जो 'मान्य' विशेषण बनता है, उसमें भी लोग 'ता' प्रत्यय लगाकर 'मान्यता' बना लेते हैं । इन सबसे बढ़कर विलक्षण भाववाचक शब्द एक कोश में मिला था । उसमें Backwardness के आगे लिखा था—'पिछड़ाहुआपन ।' फल शब्द में 'स' उपसर्ग लगने से 'सफल' शब्द बनता है और उसका भाववाचक रूप होता है 'सफलता ।' अधिकांश हिन्दी लेखक उसी 'सफल' में एक और उपसर्ग 'अ' लगाकर 'असफल' और 'असफलता' लिखते हैं । एक ही शब्द में एक साथ दो-दो उपसर्ग देखने में भद्दे मालूम होते हैं । इनके स्थान पर 'विफल' और 'विफलता'

का प्रयोग अधिक सुन्दर होगा। यहाँ कुछ और ऐसे शब्द दिये जाते हैं जो स्वयं विशेषण हैं, परन्तु जिन्हें हिन्दीवाले अपनी ओर से भी विशेषणत्व का एक नया जामा पहनाकर डबल विशेषण बना देते हैं। यथा—

वैद्युत वैद्युतिक निराकांक्ष निराकांक्षी समकोण समकोणिक
अमानुष अमानुषी ('अमानुषी' वस्तुतः 'अमानुष' का स्त्री० रूप है।)
अनभिलाष अनभिलाषी निरपराध निरपराधी, आदि।

कुछ लोग संस्कृत की संज्ञाओं से बने हुए ठीक विशेषणों का व्यवहार न करके मनमाने नियमों के अनुसार नई तरह से विशेषण भी बना लेते हैं। संस्कृत में 'सम्बन्ध' से विशेषण होता है 'सम्बद्ध'; पर बहुत से लोग लिखते हैं—सम्बन्धित। इसी प्रकार 'अनुमित' की जगह 'अनुमानित', 'संपृक्त' की जगह 'संपर्कित', 'ग्रस्त' की जगह 'ग्रसित', 'क्रुद्ध' की जगह 'क्रोधित', 'स्वीकृति' की जगह 'स्वीकारता' 'गार्हस्थ्य' की जगह 'गार्हस्थिक' आदि शब्द बना लिये जाते हैं। व्यापित (व्याप्त), परिप्लावित (परिप्लुत), प्रभावित (प्रभावान्वित), और गौरवित (गौरवान्वित) आदि और भी इसी प्रकार के बहुत से शब्द हैं जो हिन्दी में प्रायः देखने में आते हैं। संस्कृत में 'प्रलय' से 'प्रलयंकर' विशेषण बनता है। पर कुछ लोग लिखते हैं 'एक प्रलयी प्रचंड हुंकार के साथ.........' इसका अन्त होना चाहिए।

भाषा साधारणतः वही अच्छी समझी जाती है जिसमें सरल शब्दों का प्रयोग हो। केवल अपना पांडित्य दिखलाने के लिए जब बड़े बड़े दुर्बोध या अप्रचलित शब्दों का व्यवहार किया जाता है, तब भाषा भद्दी हो जाती है और खटकने लगती है। उदाहरण के रूप में एक वाक्य लीजिये जो एक भाषण के समय एक अच्छे विद्वान् के मुँह से सुना गया था—'यह विषय विशिष्ट विवेचन सापेक्ष है।' एक पुस्तक में देखा था—'पक्षी अपना नीड़ निर्माण करता है।' उसी पुस्तक में एक और जगह देखा था—'बहुत से ग्रन्थ पाली भाषा में लिखित हुए।' ऐसे प्रयोगों में बहुत खटक होती है। 'प्रनृत्यमान मयूर' की जगह 'नाचता हुआ मोर' 'गड्डुलिका-प्रवाह' की जगह 'भेड़िया-धसान' 'आद्योपान्त' की जगह 'आदि से अन्त तक' 'अग्रज' की जगह 'बड़े भाई' 'घ्राणेन्द्रिय' की जगह 'नाक', 'प्रस्तोता' की

जगह 'प्रस्तावक' और 'आलुलायित केश' की जगह 'खुले हुए बाल' लिखना कहीं अच्छा है। औद्धत्य, औन्नत्य, याथार्थ्य, काठिन्य, ईषत् रक्ताभ, नाति स्थूल आदि भी इसी प्रकार के शब्द हैं जिनका प्रयोग कम होना चाहिए।

हिन्दी में बहुत दिनों से एक और प्रवृत्ति चली आ रही है, जो अब धीरे-धीरे कम होती हुई दिखाई देती है। हमारे यहाँ किसी समय श्री ३, श्री ५, श्री १०८ आदि लिखने की प्रथा थी। इसके फेर में पड़कर कुछ लोग 'बड़े २' और 'अच्छे २' आदि भी लिखने लग गये; और अब भी कुछ लोग इसी तरह लिखते हुए देखे जाते हैं। सदा 'बड़े बड़े' और 'अच्छे अच्छे' आदि ही लिखना चाहिए। कभी तो लोग संख्याएँ अंकों में लिखते हैं और कभी अक्षरों में, और कभी एक ही वाक्य में दोनों में लिखते हैं। जैसे '७०० से एक हजार तक'। ऐसा नहीं होना चाहिए। यहाँ अंकों का प्रसंग आया है, इसलिए इस सम्बन्ध में एक और बात बतला देना आवश्यक जान पड़ता है। प्रायः लोग ५ वाँ, ७ वाँ और १२ वाँ आदि तो लिखते ही हैं, जो ठीक ही है; पर कुछ लोग २ रा और ४ था भी लिखते हैं। इसकी जगह दूसरा और चौथा ही लिखना ठीक है। कारण यह है कि २ या ४ का उच्चारण सदा दो और चार ही होता है, 'दूस' और 'चौ' नहीं होता। अँगरेजी में 2nd और 3rd आदि लिखने की प्रथा अवश्य है; पर हमारी समझ में यह ठीक नहीं है। यह और बात है कि अँगरेजी का अनुकरण करके हम यह प्रयोग अपना लें, पर रहेगा यह चिन्तनीय ही।

अन्त में हम हिन्दी लेखकों को एक और बात से सचेत कर देना चाहते हैं। वह यह कि स्वयं अपने नाम के साथ श्री, जी, बाबू, पंडित, डाक्टर, प्रोफेसर या बी० ए०, एम० ए० आदि उपाधियों का प्रयोग न किया करें। प्रायः लोग अपनी लिखी हुई पुस्तक या अपने ही द्वारा सम्पादित होनेवाले सामयिक पत्रों आदि पर अपने नाम के साथ श्री और जी आदि का उपयोग करते हुए देखे जाते हैं। यह प्रश्न भाषा का तो नहीं है, शिष्टाचार और सभ्यता का ही है; पर फिर भी ऐसे प्रयोग पढ़नेवालों को बहुत खटकते हैं; और लेखक की असंस्कृति तथा अहंमन्यता के सूचक होते हैं। इसी लिए यहाँ इस विषय का भी उल्लेख कर दिया गया है।

५

वाक्य - विन्यास

वाक्यों में शब्दों का ठीक प्रयोग न होने के कारण जो दोष होते हैं, उनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकरण में हम यह बतलाना चाहते हैं कि वाक्यों में शब्दों के ठीक स्थान पर न रहने के कारण अर्थात् वाक्यों का ठीक तरह से विन्यास न होने के कारण उनमें किस प्रकार के दोष आते हैं। वाक्य-विन्यास के दोषों के कारण भाषा में भद्दापन तो आता ही है, कुछ और तरह के दोष भी आ जाते हैं। अस्पष्टता, शिथिलता, जटिलता, भ्रामकता, अर्थ-हीनता आदि ऐसे दोष हैं जो किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहे जा सकते। ये सब दोष इसी लिए होते हैं कि वाक्य का आदि से अन्त तक ठीक तरह से निर्वाह नहीं होता। यदि इस अनिर्वाह के कारण उक्त दोष न भी आवें तो भी भाषा में भद्दापन तो जरूर ही आ जाता है। भाव या अर्थ सम्बन्धी अथवा शाब्दिक द्विरुक्ति या पुनरुक्ति भी वाक्य-रचना का बहुत बड़ा दोष है। यदि वाक्य का आदि से अन्त तक ठीक तरह से निर्वाह हो तो अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से वाक्य शुद्ध तो हो, पर उसमें बे-मेल शब्दों की योजना हो तो भी वाक्य भद्दा हो जाता है। और कभी कभी तो वाक्य-रचना ऐसी होती है कि वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। कुछ लोग वाक्यों की रचना ऐसी असावधानी से करते हैं कि किसी कार्य का कारण कुछ का कुछ प्रतीत होता है। ये सब भी वाक्य-रचना के बहुत बड़े दोष हैं।

लिखते या बोलते समय इस बात का ध्यान रखने की बहुत अधिक आवश्यकता होती है कि जो कुछ लिखा या कहा जाय, वह बिलकुल स्पष्ट हो और उसके समझने में किसी को कोई कठिनता न हो। यदि लिखी या कही हुई बात किसी की समझ में ही न आवे या उसे समझने के लिए किसी को कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़े, अथवा आवश्यकता से

अधिक समय लगाना पड़े, तो वह लिखना या कहना व्यर्थ भले ही न हो, पर दूषित अवश्य समझा जायगा। कुछ अवसरों पर तो वह लिखना या कहना इसलिए व्यर्थ भी हो जाता है कि बहुत से लोग या तो उस लेख या कथन का ठीक ठीक आशय ही नहीं समझ पाते या कुछ का कुछ अर्थ लगा बैठते हैं। कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं जिनमें अस्पष्ट, शिथिल या जटिल वाक्यों से बहुत कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है; और कभी-कभी तो उससे अनर्थ भी हो सकता है। इसलिए भाषा को इन सब दोषों से बचाने की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकरण में हम इसी प्रकार के दोषों का विचार करना चाहते हैं।

कुछ दिन हुए, रामपुर रियासत में कुछ राजनीतिक सुधार हुए थे। एक काउन्सिल बनी थी, जिसमें कुछ निर्वाचित और कुछ नियोजित सदस्य रहने को थे। उसकी जो सूचना दिल्ली के रेडियो से जनता को दी गई थी, उसमें और और बातों के साथ यह भी कहा गया था—'नवाब साहब ने यह भी फरमाया कि वाइस प्रेसिडेन्ट काउन्सिल के मेम्बर चुनेंगे।' अवश्य ही वक्ता का आशय यह था कि वाइस प्रेसिडेन्ट के चुनाव का अधिकार काउन्सिल के सदस्यों को दिया गया है। परन्तु वक्ता ने जो कुछ कहा था, उसका यह आशय भी हो सकता था कि स्वयं वाइस प्रेसिडेन्ट ही काउन्सिल के सदस्यों का चुनाव करेंगे। अतः उक्त कथन अस्पष्ट था और उससे लोगों को भ्रम हो सकता था।

एक स्थान पर लिखा हुआ था—'श्री हित हरिवंश जू के प्रशंसात्मक छप्पय की टीका।' इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जिस छप्पय की टीका का उल्लेख है, वह हित हरिवंश जू का बनाया है अथवा हित हरिवंश जू की प्रशंसा में किसी और का बनाया है। अवश्य ही प्रसंग से यह बात समझ में आ गई थी कि हित हरिवंश जू की प्रशंसा में जो छप्पय बने हैं, उन्हीं की टीका से मतलब है। फिर भी वाक्य की रचना ऐसी थी, जिससे लोगों को धोखा हो सकता था।

यदि कोई कहे 'वह बैल के मारने से मर गया।' तो आप इसका क्या अर्थ समझेंगे? बैल ने उसे मारा, इसलिए वह मर गया? या उसने किसी

बैल को मारा था, जिसकी हत्या के फल-स्वरूप वह मर गया ? इस वाक्य-रचना से तो दोनों ही अर्थ निकल सकते हैं। 'नाक मुँह के बीचोबीच होती है।' से सुनने-या पढ़नेवाला क्या समझे ? 'वे खिड़की के बाहर मुँह निकालकर धो रहे थे।' मानो मुँह भी लोटे या तौलिये की तरह की कोई चीज हो जो बाहर निकाली और अन्दर रखी जा सकती हो ! वाक्य का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि ठीक आशय तुरन्त समझ में आ जाय।

एक समाचार-पत्र में एक शीर्षक इस प्रकार छपा था—'युरोप और एशिया में बहुत बड़ा युद्ध होगा।' वास्तव में लेखक का अभिप्राय यही था कि युरोप और एशिया दोनों महादेशों में मित्र राष्ट्रों की ओर से धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध बड़े-बड़े युद्ध छेड़े जायँगे। परन्तु वाक्य की रचना से यह अर्थ निकलता है कि युरोप और एशिया ही दोनों आपस में लड़ मरने की तैयारी कर रहे हैं ! कुछ दिन हुए, इसी तरह का एक और वाक्य पढ़ा था, जो इस प्रकार था—'इस जगह पं० सुन्दरलाल के अभी आज ही पढ़े लेख का जिक्र करना असंगत न होगा।' इस वाक्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि लेखक ने आज ही पं० सुन्दरलाल का कोई लेख पढ़ा है ; अथवा पं० सुन्दरलाल ने आज कहीं कोई लेख पढ़ा है; और लेखक उसका जिक्र कर रहा है। 'कालिदास ने कुमुद का वर्णन शरत् काल में किया है।' मानो जिस समय कालिदास ने कुमुद का वर्णन किया था, उस समय शरद् ऋतु थी। होना चाहिए '......कुमुद का उल्लेख शरत् काल के वर्णन के अन्तर्गत......' 'युद्ध का निर्णयात्मक अध्याय में प्रवेश' ऐसा वाक्य है, जिसका अर्थ कम लोग सहज में समझेंगे।

ये तो ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक वाक्यों के उदाहरण हैं, जो पाठक या श्रोता को भ्रम में भले ही डाल दें, फिर भी कुछ न कुछ अर्थ अवश्य रखते हैं—चाहे वह अर्थ लेखक या वक्ता के आशय के विपरीत ही हो। पर इनसे भी बढ़कर दूषित वे वाक्य होते हैं, जिन्हें लाख प्रयत्न करने पर भी आदमी किसी तरह समझ ही नहीं सकता। ऐसे वाक्य आप पढ़ या सुन भले ही लीजिये, परन्तु आपके पल्ले कुछ भी न पड़ेगा। कुछ उदाहरण लीजिये—

'समाचारपत्र प्रति शत के भाव से हमारे यहाँ अभी व्यापार नहीं बन पाये।'

'अँगरेज लोग हमसे कह रहे हैं कि साम्राज्य ही हमारा अन्तिम सहारा है, यदि हम उन्हें यह विश्वास नहीं दिला देते कि प्रजातन्त्र के लिए अपनी जिम्मेदारी पूरी करने में हम किनाराकशी के सिद्धान्त से परिचालित न होंगे।'

'लेकिन जनता को तो उस जालिम के विरुद्ध अधिकार का दृढ़ विश्वास चाहिए, जो स्यात् उतना भी सहृदय न हो।'

'जिसकी साख आसमानी सुलतानी हरकतों से पैदा हुई बेबसी को छोड़ कर बाकी ध्रुव की तरह अचल हो।'

'भारत के विषय में मेरी दृष्टि सच्चे अर्थों में फासिस्ट-विरोधिनी है।'

'विरुद्ध दृष्टि के प्रति गरम हो जाना उन्हें पसन्द न था।'

'सबको उत्सुकता का मिश्र अनुभूत हुआ'। आदि।

अब आप उक्त वाक्य दो-चार बार पढ़ें और उनका आशय समझने का प्रयत्न करें। और यदि आपकी समझ में उनका कुछ भी आशय न आवे तो आप भी ऐसे वाक्य लिखते समय सतर्क रहा करें।

कुछ वाक्य तो स्वयं अपनी रचना के कारण ही अस्पष्ट होते हैं, और कुछ अपनी शिथिलता के कारण लोगों की समझ में नहीं आते। साधारण शिथिल वाक्य थोड़ा प्रयत्न करने पर समझ में आ जाते हैं। परन्तु जब उनकी शिथिलता बहुत बढ़ी हुई होती है, तब वे भी बहुत कुछ अस्पष्ट और भ्रामक हो जाते हैं। वाक्यों की बहुत बढ़ी हुई शिथिलता ही प्रायः उन्हें अस्पष्ट कर देती है। अस्पष्ट वाक्यों की अपेक्षा शिथिल वाक्य कुछ कम दूषित होते हैं; अतः कहा जा सकता है कि अस्पष्टता से शिथिलता कुछ हलका दोष है। फिर भी वह दोष तो है ही, क्योंकि शिथिल वाक्य का अर्थ समझने में कठिनता अवश्य होती है। कुछ शिथिल वाक्य बिना किसी प्रकार की कठिनता के ही समझ में तो आ जाते हैं, फिर भी वे लेखक की अयोग्यता अथवा असावधानता सिद्ध करने के लिए यथेष्ट होते हैं। अतः वाक्यों को शैथिल्य दोष से बचाने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। शिथिल वाक्यों के कुछ उदाहरण लीजिये—

'यदि हम इस युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा से इन्कार ही करते रहेंगे तो उस समय जब हमें पिछड़ा हुआ युद्ध एशिया में चलाने का अवसर होगा,

तब उन्हीं लोगों से काम पड़नेवाला है जिनका विश्वास हमारे प्रति गलित हो चुका होगा।'

यही वाक्य यदि इस प्रकार लिखा जाता तो अधिक स्पष्ट होता—

'यदि हम इस युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने से इन्कार करते रहेंगे तो एशिया में पिछड़ा हुआ युद्ध ज़ारी करने के समय हमें उन्हीं लोगों से काम पड़ेगा, जिनका हमारे प्रति विश्वास गलित हो चुका होगा।'

'देहातों में हफ्ते में एक बार डाक बँटना देशी भाषाओं के पत्रों के फैलने में महान् संकट है।' इस वाक्य का अच्छा रूप यह होगा—'...... एक बार डाक बँटना देशी भाषाओं के पत्रों के प्रचार में बहुत बाधक है।' 'कब्रें उखाड़कर वे ही पीछा पकड़ने का पागलपन करते हैं।' की जगह— 'कब्रें खोदकर वही पीछे मुड़ने (या पिछड़ने ?) का पागलपन करते हैं।' ठीक होगा। 'ऐसे दोनों अवसरों पर जो दोनों एक ही मास के भीतर की घटनाएँ हैं।' की जगह 'ऐसे दोनों अवसरों पर, जो दोनों एक ही मास के अन्दर घटित हुए हैं।' अधिक उत्तम होगा।

ऐसे शिथिल वाक्यों के संशोधन के फेर में न पड़कर अब हम उनके कुछ उदाहरण दे देना ही यथेष्ट समझते हैं। पाठकों और विशेषतः विद्यार्थियों को स्वयं ही उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१. गाँवों तक समझे जानेवाले साहित्य से हम उच्चता वसूल करने की जिद छोड़कर सम्पर्क स्थापित करें।
२. हम क्यों आँख मूँदते हैं कि अँगरेजी इस देश की साधारण भाषा नहीं बनाई जा रही है ?
३. दूसरी तरफ वे साहित्यिक हैं, जिनकी पढ़ने की भूख की तृप्ति उनकी रोटियाँ बेचकर भी पूरी नहीं होती।
४. ईमान परिस्थितियों के कारीगरों के यहाँ टूट-फूटकर मरम्मत किया जाता रहता है।
५. जिनका शासन ने तिरस्कार किया है, केवल उसी तिरस्कार पर हम अपने कलाकारों को न भुला दें।
६. तब के बाद हिन्दी बहुत आगे बढ़ी कही मानी जाती है।

७. ग्वालियर अनेक विद्वानों को अपने में रखने का गौरव पाले है।
८. हमारा साहित्य गतिशील होने के बजाय, उसे मुहाफिजखानों में रखना पड़े।
९. वे स्वयं ही अपने कर्तव्याभाव से जी भर फिट्टा पड़ चुके हैं।
१०. आशावादी राजनीतिज्ञों की धुन इसी बात को लेकर चल रही है।
११. खाद्य समस्या के बारे में हमें अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।

ये सब उदाहरण ध्यान-पूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य किन कारणों से शिथिल होते हैं। पहली बात तो यह है कि शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ और प्रयोग के ज्ञान का अभाव ही प्रायः वाक्यों को शिथिल करता है। दूसरे, व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी प्रायः वाक्य को शिथिल कर देती हैं; और जो तीसरी सबसे बड़ी बात किसी वाक्य में शिथिलता उत्पन्न करती है, वह है शब्दों का अपने नियत या उचित स्थान से हटकर इधर-उधर हो जाना। सतर्क लेखक इन तीनों दोषों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

अस्पष्ट, भ्रामक और शिथिल वाक्यों की अपेक्षा जटिल वाक्य सबसे कम दूषित होते हैं। जटिल वाक्यों के दूषित होने में तो कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु उनका दोष कुछ अवस्थाओं में और कुछ दृष्टियों से क्षम्य होता है। प्रायः ऐसे अवसर आते हैं, जिनमें किसी गूढ़ विषय का विवेचन करते समय अथवा अन्य भाषा से अनुवाद करते समय कभी-कभी लेखक को विवश होकर वाक्य-रचना कुछ जटिल करनी पड़ती है। अथवा कभी-कभी ठीक ध्यान न देने से या अभ्यास-वश भी वाक्य जटिल हो जाते हैं। ऐसे वाक्य केवल आंशिक रूप में अस्पष्ट होते हैं; थोड़ा प्रयास करने पर उनका ठीक-ठीक अर्थ समझ में आ जाता है। विशुद्ध जटिल वाक्य व्याकरण सम्बन्धी भूलों से भी रहित होते हैं। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि किसी वाक्य को जबरदस्ती जटिल बनाने का प्रयत्न किया जाय अथवा लिखते समय पूरी तरह से सतर्क न रहा जाय, तो जटिल वाक्य भी व्याकरण की दृष्टि से दूषित हो जाते हैं—उनमें व्याकरण सम्बन्धी भूलें आ जाती हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे जटिल वाक्यों के उदाहरण देते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं तो बिलकुल

शुद्ध, फिर भी जिनका आशय समझने में कुछ कठिनता होती है ।

१. अलबत्ता इस जगह यह बात न देखी जाती थी कि कोसों तक सुस्वादु मीठे फलों से लदे हुए वृक्ष पथिकों के आतिथ्य के लिए अपनी लम्बी और विस्तृत शाखा रूपी भुजाओं से हवा में झकोरा खा-खाकर उन्हें बुला रहे हों ।

२. आधुनिक युद्ध-प्रणाली में किसी स्थान से सेना के हारकर पीछे हटने के समय वहाँ की सब चीजों को पूरी तरह से जलाकर अथवा और उपायों से इस प्रकार नष्ट कर देना कि वहाँ पहुँचने पर शत्रु को कुछ भी न मिले, 'सर्व-क्षार' कहलाता है ।

३. हमें भाषा के द्वारा अपनी इच्छा या आवश्यकता ही नहीं प्रकट करनी पड़ती और उनकी सिद्धि का प्रयत्न अथवा उपाय ही नहीं करना पड़ता, बल्कि और भी ऐसे अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जिनका इस अवसर पर विवेचन इष्ट न होने और एक बड़ी सीमा तक अप्रासंगिक होने के अतिरिक्त अनुचित और आक्षेप-योग्य भी समझा या माना जा सकता है । (यह वाक्य यदि दो वाक्यों में विभक्त हो जाय तो इसकी जटिलता जाती रहेगी ।)

४. उनका त्यागपत्र प्रकाशित हो जाने पर इस संयोग से ऐतिहासिक समानान्तरता की सिद्धि होने पर भी यह आशा की जाना (उर्दू प्रभाव) और भी स्वाभाविक था कि अब प्रत्येक उपयुक्त अवसर आने पर वे निश्चित रूप से प्रजा का ही पक्ष लेने की तत्परता दिखलावेंगे । (जटिलता के ही कारण शिथिल है)

५. दूकानदारों के इस कथन वर विश्वास न करने का कोई कारण न होने से जिन मकानों में बिजली नहीं है, उनमें रहनेवाले चिन्तित हो रहे हैं । (जटिल और शिथिल)

६. जो लोग माया और मोह से अपना मन हटाकर गुरु के उपदेश से उसका सारा मल धो डालते हैं और उसे आत्म-स्वरूप में स्थापित कर लेते हैं और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्र में नहीं पड़ता, तब तक तो वह समुद्र से भिन्न और आकार के विचार

से उसके सामने बिलकुल तुच्छ जान पड़ता है, पर जब वही नमक समुद्र में मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब उससे अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिसका मन संकल्प-विकल्प से बाहर निकलकर चैतन्य में मिल जाता है, वह पुरुष यद्यपि देखने में देश-काल की मर्यादा के विचार से अन्यान्य लोगों की तरह एक-देश में स्थित जान पड़ता है, तो भी वह अपने आत्म-स्वरूप से तीनों भुवनों को व्याप्त कर लेता है। (व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी केवल विस्तार के कारण जटिल और दुरूह)

७. चूल्हा लोहे या मिट्टी आदि का बना हुआ वह प्रसिद्ध आधार है, जिसका आकार पात्र के सदृश होता है और जिसके नीचे आग जलाकर जिस पर रसोई पकाते हैं। (जटिल न होने पर भी विलक्षण)

इन सब उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जटिलता एक बड़ी सीमा तक वाक्य के विस्तार के साथ सम्बद्ध रहती है। साधारणतः जब कोई बहुत लम्बा वाक्य लिखने का प्रयत्न किया जाता है अथवा आवश्यकता- वश ऐसा वाक्य लिखना पड़ता है, तब प्रायः उसमें जटिलता या दुरूहता आ जाती है। इस दोष से बचने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि जहाँ तक हो सके, छोटे छोटे वाक्य लिखे जायँ, अथवा एक ही वाक्य के कई छोटे छोटे टुकड़े कर लिये जायँ; और तब उन्हें संगति और भाव के विचार से उपयुक्त स्थानों पर रखा जाय। फिर भी यदि कहीं बड़ा वाक्य लिखने की आवश्यकता आ ही पड़े तो सतर्क रहना चाहिए; और उसे दुरूहता से बचाना चाहिए।

कभी कभी वाक्य में आदि से अन्त तक ठीक तरह से न होनेवाले निर्वाह के कारण ही भाव प्रायः अस्पष्ट रह जाता या भद्दा हो जाता है। इस प्रकार के अनिर्वाहित वाक्यों के कुछ उदाहरण लीजिये—

१. उन्होंने कबीर आदि झाड़-फटकार के द्वारा चिढ़ानेवाले सिद्ध हुए सन्तों के साथ इनकी तुलना की है।

२. चावल की फसल कटने लग जाने पर भी सरकार अपनी योजना लागू करने सम्बन्धी कठिनाई समझ रही थी।

३. आज-कल दो लाख आदमिमों को नित्य गल्ला खरीदने की हालत है।
४. केवल ऐसा करने से ही भावुकता को स्थान नहीं हो जाता।
५. खाल से मढ़े अस्थि-पंजरों का दम तोड़ता समूह देहातों में मौत का तहलका मचा रहा था।
६. लेकिन आज तो दो लेखों पर ही गुरु-चेलों की जूती-पैजार होते देखी जाती है।
७. आप कैसे यह कह सकते हैं कि स्थिति के सम्बन्ध में स्वाँग नहीं बनाया गया ?
८. भारत चाहता है कि वह भी माल तैयार करने की दशा में हो जाय।

स्पष्ट है कि ऊपर के वाक्यों की ठीक तरह से रचना नहीं हुई है और इसी लिए वे जटिल या अस्पष्ट और साथ ही भद्दे हो गये हैं। उनका प्रवाह ठीक नहीं है, भाषा मुहावरेदार नहीं है। इससे कुछ कम दूषित वे वाक्य होते हैं जिनमें क्रियाओं का निर्वाह ठीक तरह से नहीं होता। हमारा अभिप्राय ऐसे वाक्यों से है जिनमें आरम्भ में तो कुछ और प्रकार की क्रियाएँ रहती हैं और अन्त में कुछ और प्रकार की। या यदि क्रियाओं का निर्वाह ठीक तरह से हो भी तो कुछ और पदों का ठीक निर्वाह नहीं होता। जैसे—

१. ऐसा दारुण अन्न-कष्ट कभी नहीं देखा गया, जैसी भयंकर दशा आज उत्पन्न है।
२. जो लोग मराठों का इतिहास जानते हैं, उन्हें यह भी मालूम होगा कि शिवाजी कौन थे ?
३. जब सन लाइट साबुन माँगिये, तब अच्छी तरह देख लें।
४. यदि आप कृपा कर आ सकें तो बहुत अच्छा होता।
५. ये दक्षिणी ब्राह्मण थे और अनुराधापुर में पढ़े थे।
६. ज्यों-ज्यों आलोचना होने अगी, त्यों-त्यों रहस्य प्रकट होते गये।
७. एक भावुक जो काम-धन्धे में जकड़ दिया गया था, किन्तु उसकी लेखनी वहाँ भी भावुकता का परिचय देने लगी।
८. गन्धर्व वृक्षों के (?) और अप्सराएँ उर्वरता की अधिष्ठात्री देवियाँ मानी जाती थीं। ('और' से पहले 'अधिष्ठाता देवता' होना चाहिए)

९. उन्होंने आपका लालन-पालन किया और दीक्षा दी थी।
१०. मुँह से खून फेंककर उनका शरीरान्त हो गया। (आदि से अन्त तक भ्रष्ट)
११. वह दाम होते हैं शरीर का रक्त।
१२. जब तक राजनीतिक जिच मिटती नहीं और देश की स्वतन्त्रता की पिपासा नहीं मिटती.........।

कभी-कभी लोग वाक्यों में ऐसे शब्द ले आते हैं, जिनकी अन्य शब्दों या क्रियाओं के साथ किसी प्रकार संगति ही नहीं बैठती। जैसे—'इस श्लोक में स्त्री के विभिन्न अंगों और क्रियाओं के संस्पर्श से वृक्षों के पुष्पित होने का उल्लेख है।' यहाँ सोचने की बात यह है कि अंगों का संस्पर्श तो ठीक है, परन्तु क्रियाओं का संस्पर्श कैसा होता है? इसी प्रकार एक और वाक्य है—'वह सुदूर की संस्थाओं और व्यक्तियों के कार्यों के अनुवाद करके अपने पत्र में देता है।' इसमें 'संस्थाओं और व्यक्तियों के कार्यों के अनुवाद' का क्या अर्थ है?

कभी-कभी लोग फालतू शब्दों या क्रियाओं का प्रयोग करके ही वाक्य भद्दा कर देते हैं। जैसे—

१. उसके कार्य-कलाप से लोगों पर बड़ी-बड़ी आफतें आईं।
२. उसके हृदय में अनेक प्रकार की वासनाएँ लीला मचा रही थीं।
३. तीस साल पहले बंगाल में प्रति व्यक्ति के मत्थे ३८४ पाउंड चावल पैदा होता था।
४. चोर बाजार की आस्मानी कीमत से चावल खरीद सकने की सार्थकता लोगों में नहीं रह गई।
५. कुन्ती ने वहीं से इन पुत्रों की आमदनी की थी।
६. उनकी एक आँख कानी थी।
७. मि० जिन्ना की पंजाब-यात्रा के प्रति बहुत उत्सुकता दिखाई जा रही है।
८. यह मल-वेग की सृष्टि करता है।
९. बिना दवा के संग्रहणी समाप्त हो गई।

१०. यह 'सुनीता-श्रीकान्त' एक-दम क्या है !

कभी-कभी बिलकुल अनावश्यक रूप से और निरर्थक शब्दों की भरती करके वाक्यों का भद्दापन बढ़ाया जाता है, और उनमें 'अधिक-पदत्व' दोष लाया जाता है। 'यथार्थ में वे महर्षि धन्य हैं कि जिन्होंने ये ग्रन्थ बनाये।' और 'मैं इसका वह अर्थ नहीं लगाता जो कि आप लगाते हैं।' में 'कि' बिलकुल व्यर्थ है। इन वाक्यों को निरर्थक 'कि' ने ही भद्दा कर दिया है। एक पुस्तक में पढ़ा था—'मयूरी को प्रलुब्ध करने के लिए पुरुष मयूर नृत्य करता है।' जब मयूर और मयूरी दोनों मौजूद हैं, तब मयूर के साथ 'पुरुष' विशेषण लगाना व्यर्थ है।

एक नेता की मृत्यु के उपरान्त उनकी जो संक्षिप्त जीवनी एक पत्र में निकली थी, उसमें लिखा था कि अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त आप 'तत्काल (अपने छोटे बच्चों के) माँ-बाप दोनों बन गये।' यह न सोचा गया कि वे उन बच्चों के बाप तो पहले से थे ही; फिर नये सिर से बाप कैसे बने ? यहाँ साहित्य दर्पणकार की एक बात याद आ गई। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि 'भवानीश' कहना इसलिए ठीक नहीं है कि 'भवानी' शब्द का अर्थ ही है–भव की पत्नी अर्थात् पार्वती। भवानीश का अर्थ होगा—'भव की पत्नी के पति' और यह भाव ही दूषित होने के कारण त्याज्य है। पर गोस्वामी तुलसीदास जी तक लिख गये हैं—

त्रयःशूल निर्मूलनं शूलपाणिम्। भजेहं भवानीपतिं भावगम्यं ॥

यहाँ उदाहरण के रूप में कुछ और ऐसे वाक्य दिये जाते हैं जिनमें शब्दों का फालतू प्रयोग हुआ है।

१. वह एक योग्य और अनुभवी सम्पादक है।

२. अभंग एक प्रकार का मराठी छन्द होता है।

३. उन्होंने इस बात पर आपत्ति प्रकट की है।

४. कवियों को काव्य के करते समय ही यह आनन्द मिलता है।

५. यह अलग से कहने की जरूरत नहीं है।

६. जबरदस्ती से सरकार जो चाहे सो करे।

७. वे इन सब चीजों की तैयारी करने में विशेषज्ञ थे।

८. मैं समझता हूँ कि वह वहाँ जरूर गया **रहा** होगा।

९. संकलन चाहे जब **क्यों न** किया जाय।

१०. बेटी, आज तुम ससुराल जा रही हो, **अतः** जाओ और सुखी रहो।

११. उनकी प्रखर बुद्धि-शक्ति उनके हर काम में प्रकट होती थी।

१२. एल्बा पर मित्रों का अधिकार **होने की** दशा। } (समाचारों के शीर्षक)

१३. कांग्रेस जाँच में **अभियोगों से** सर्वथा निर्दोष। } (समाचारों के शीर्षक)

व्यर्थ के और फालतू शब्दों के प्रसंग में एक और बात याद आ गई है। एक साहित्यज्ञ का कहना है कि—'आप अपने मन से सोचें।' वाक्य में 'अपने' शब्द फालतू है, क्योंकि सोचा सदा अपने ही मन में जाता है, पराये मन में नहीं। परन्तु इस तर्क में कुछ भी सार नहीं है। हम प्रायः कहते हैं—'यह चीज आप अपने हाथ से उन्हें दीजिये।' अथवा 'जरा आँख से देखो।' इन वाक्यों में 'अपने' और 'आँख से' के कारण कुछ विशेषता आ गई है, अतः हम इन्हें निरर्थक नहीं कह सकते।

वाक्य-विन्यास में एक और प्रकार का दोष द्विरुक्तियों के कारण आता है। साहित्य में इसे 'कथित-पदत्व' दोष कहते हैं। ये द्विरुक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। पहले प्रकार में हम वे द्विरुक्तियाँ ले सकते हैं जो शब्द से सम्बन्ध रखती हैं। इनमें एक ही वाक्य में एक ही शब्द दो बार आता है। जैसे—

१. मुसलमान **लोगों** में जो **लोग** अत्यन्त धर्म-परायण थे······।

२. विश्व-व्यवस्था के आधार **स्वरूप रूप में** पक्का समझौता हो जाय।

३. उसने निश्चित **रूप** से यह **रूप** धारण कर लिया था।

४. दो वर्षों के **बीच** भारत और ब्रिटेन के **बीच** जो कटुता हुई है।

५. इस **प्रकार** वह अनेक **प्रकार** के बहाने बनाने लगा।

६. इतने में कोई चमक **कर** आ **कर** धक्का दे **कर** निकल गया।

द्विरुक्ति दोष का दूसरा प्रकार वह है, जो अर्थ से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् जब एक ही अर्थ या भाव सूचित करनेवाले दो शब्द वाक्य में साथ ही साथ लाये जाते हैं, तब यह दोष होता है। जैसे—

१. उस वन में प्रातः **काल** के **समय** बहुत ही सुहावना दृश्य होता था।

२. वहाँ बहुत से लोग **बेहाल** दशा में पड़े थे।
३. देश की **वर्तमान मौजूदा** सामाजिक परिस्थिति......।
४. **तमाम** इंगलैंड **भर** में यह बात फैल गई।
५. माँ भी **सोती नींद** से जाग पड़ी।
६. वे **गुनगुने गरम** पानी से स्नान करते हैं।
७. **कृपया** आप ही यह बताने का **अनुग्रह** करें......।
८. इसके बाद वे **वापस** लौट आये।
९. वे सब काल-चक्र के **पहिये** के नीचे पिस गये।
१०. यह ऐसी पहेली है जिसे सुलझा सकना **सम्भव** नहीं **हो सका है**।
११. वह अपने बच्चों के लिखने-पढ़ने की कोई निश्चित **व्यवस्था** का **प्रबन्ध** नहीं कर सकता था।
१२. अपनी चातुरी और **शक्ति-बल** से उन्होंने वह काम कर डाला।
१३. जो ग्रन्थ **उपलब्ध** हुए हैं, वे नेपाल में **पाये गये हैं**।
१४. इसके **बाद फिर** यह हुआ कि ....।
१५. यदि आप कहते हैं कि यह मार्ग बन्द नहीं **है** तो आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह पुनः खुल जाय।
१६. शौनकादि **प्रभृत्ति** शास्त्र ग्रन्थों के अनुसार......।
१७. **रेल** से जाना है तो **ट्रेन** का समय उनसे पूछ लीजिये।
१८. पुस्तिका भेजते समय सरकार की उस पर आलोचना **चाहने** की इच्छा नहीं थी।
१९. न जाने **कितने बेशुमार** जीव पैदा हो गये।
२०. उन **आँखों** की **दृष्टि** शून्य आकाश में ही रह जाती थी।
२१. वे लोग **परस्पर** एक **दूसरे** को सन्देह की दृष्टि से देखते थे।
२२. हरि की **थाह** का पता न मिलता था।
२३. **अश्वमेध यज्ञ** का घोड़ा बाँधकर रख लिया।
२४. आपका **भवदीय**। (पत्र के अन्त में)

वाक्य वही सुन्दर होते हैं, जिनमें आदि से अन्त तक एक ही मेल के शब्दों का प्रयोग हो। एक ही वाक्य में कई तरह के या कई भाषाओं के

बेमेल शब्दों का प्रयोग भी वाक्य-विन्यास का बहुत बड़ा दोष है। इससे वाक्यों में भद्दापन तो आता ही है, लेखक की असावधानता और उसके शब्द-भांडार की अल्पता भी सूचित होती है। कुछ उदाहरण लीजिये—

१. आज-कल वहाँ काफी सरगरमी दृष्टिगोचर हो रही है।
२. वह सब उसके शिकम में विलीन हो जाता था।
३. नेचर के जर्रे-जर्रे पर नये जोबन का प्लावन था।
४. वे वैज्ञानिक अन्वेषणों में अजहद दिलचस्पी रखते थे।
५. वकीलों ने कागजात का निरीक्षण किया।
६. वह पत्र लिखकर उन्होंने अपनी गैर-जिम्मेदारी का प्रदर्शन किया।
७. उनका भांडार निखिल न्यामतों से भरा था।
८. साहित्य को अत्युच्च पैमाने पर पहुँचाना चाहिए।
९. अत्यधिक ह्रास के बावजूद भी...
१०. प्रबल विरोध के बावजूद भी...
(इनमें 'के बावजूद' की जगह 'होने पर' से काम चल सकता है।)

वाक्य-विन्यास में और भी अनेक प्रकार के दोष होते हैं। उनमें से एक प्रकार का दोष है—भ्रामक कारण-निर्देश। हम एक बात कहते हैं, परन्तु ऐसे ढंग से कहते हैं कि उसका कारण कुछ-से-कुछ प्रतीत होने लगता है। उदाहरण के लिए एक प्रतिष्ठित लेखक का एक वाक्य है—'राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत-यात्रा ने इन संस्कृत ग्रन्थों की संख्या को और भी बढ़ा दिया है।' लेखक महोदय का आशय तो यह है कि राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत में बहुत से नये ग्रन्थ मिले हैं; और इस कारण इस प्रकार के ग्रन्थों की संख्या और भी बढ़ गई है। परन्तु वाक्य-रचना से ऐसा जान पड़ता है कि मानों स्वयं राहुल जी की यात्रा ने उस ग्रन्थों की संख्या बढ़ा दी हो! इसी प्रकार का एक और वाक्य है—'इसने मौर्यों की राजधानी का विशद वर्णन किया है, क्योंकि यह कई वर्षों तक वहाँ रहा था।' मानों मौर्यों की राजधानी में बहुत दिनों तक रहने से ही किसी में उसका विशद वर्णन करने की योग्यता आ जाती हो; अथवा कई वर्षों तक कहीं रहने के कारण ही कोई वहाँ का विशद वर्णन करने के लिए विवश होता हो।

वाक्य में एक ही व्यक्ति के लिए कहीं 'यह' और कहीं 'वह', कहीं 'आप' और कहीं 'इन्हें', कहीं 'उसका' और कहीं 'इनका' आदि भी नहीं होना चाहिए। परन्तु बहुत बड़े-बड़े लेखक भी इस छोटी सी बात पर ध्यान नहीं देते। वे बहुत कुछ इस प्रकार लिखते हुए देखे जाते हैं—

'आप जब वहाँ पहुँचे, तब स्टेशन पर भारी भीड़ थी। बहुत से लोग उनका स्वागत करने के लिए आये थे। स्टेशन के बाहर एक शामियाने के नीचे बहुत बड़ी सभा हुई। वहाँ से चलकर जब ये ठहरने के स्थान पर पहुँचे, तब सन्ध्या हो चुकी थी।' आदि।

कुछ लोग वाक्यों में क्रम का ध्यान नहीं रखते। पहले दो-तीन कर्त्ता दे दिये और तब बिना क्रम का ध्यान रखे ही उनके कर्म या क्रियाएँ दे दीं। जैसे—'ऐसे चित्रों में किसी व्यक्ति या घटना के दृश्य या रूप का ही अंकन प्रधान होता है।' होना चाहिए—'व्यक्ति या घटना के रूप या दृश्य……।' ऐसा ही एक और वाक्य है—'वहाँ बहुत से पशु और पक्षी उड़ते और चरते हुए दिखाई दिये।' इस वाक्य में यदि 'पशु' पहले है तो उसका कर्म 'चरना' भी पहले होना चाहिए; और यदि 'पक्षी' बाद में है तो उसका कर्म 'उड़ना' भी बाद में ही होना चाहिए।

व्याकरण के अनुसार वाक्य दो प्रकार के होते हैं—साधारण और मिश्र। ऐसे छोटे वाक्य जिनमें एक ही संज्ञा और एक ही क्रिया हो, साधारण वाक्य कहलाते हैं। वाक्य-विश्लेषण के प्रसंग में ऐसी संज्ञा को उद्देश्य और ऐसी क्रिया को विधेय कहते हैं। 'मैं वहाँ जाऊँगा।' 'आप पुस्तक भेज दीजियेगा।' आदि साधारण वाक्य हैं। परन्तु सभी वाक्य इतने छोटे और सरल नहीं हो सकते। प्रायः ऐसे बड़े-बड़े वाक्य भी होते हैं, जिनमें कई उप-वाक्य भी रहते हैं। वे 'मिश्र वाक्य' कहलाते है।

व्याकरण की जटिलताओं से अपने विवेचन को बचाना ही आरम्भ से हमारा सिद्धान्त रहा है। इसलिए यहाँ भी हम व्याकरण सम्बन्धी जटिलताओं के फेर में न पड़कर यही बतलाना चाहते हैं कि मिश्र वाक्यों में किस प्रकार के और किन कारणों से दोष आते हैं। यदि संक्षेप में कहा जाय तो मिश्र वाक्य तीन कारणों से दूषित होता है। एक तो उसके उप-वाक्यों का अपने

ठीक स्थान पर न होना; और दूसरे विधेय का उद्देश्य से इतनी दूर और ऐसे ढंग से जा पड़ना कि या तो वाक्य भद्दा हो जाय या जटिल। तीसरा प्रकार वह है जिसमें वाक्य के पद या उप-वाक्य इतनी दूरी पर जा पड़ें कि उनका अन्वय कठिन और भ्रामक हो; अर्थात् उनमें 'दूरान्वय' दोष हो। कभी-कभी अनावश्यक रूप से कहीं कोई विभक्ति या अव्यय आदि आ जाने के कारण भी वाक्य दूषित हो जाता है। जैसे—

१. यह चित्र श्री शारदा जी जब नागौद पधारे थे, उस समय लिया गया था। (होना चाहिए—यह चित्र उस समय लिया गया था, जब श्री शारदा जी नागौद पधारे थे।)

२. इस परिश्रम का बदला अपने कार्य से मनुष्य को जो सन्तोष होता है, वही है। (होना चाहिए—अपने कार्य से मनुष्य को जो संतोष होता है, वही उसके परिश्रम का बदला है।)

३. चन्दन के वृक्ष में बहु-संख्यक छोटे-छोटे प्रथमावस्था में फीके और बाद में बैंगनी रंग के फूल होते हैं। (होना चाहिए—चन्दन वृक्ष में बहु-संख्यक छोटे-छोटे फूल होते हैं जो प्रथमावस्था में फीके और बाद में चटकीले बैंगनी रंग के हो जाते हैं।)

४. किसी अवसर पर किसी ऐसे काम के लिए स्वतन्त्रता जो और अवसरों पर निषिद्ध हो, प्राप्त होती है। (होना चाहिए—'किसी अवसर पर किसी ऐसे काम के लिए भी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, जो और अवसरों पर निषिद्ध होती है।)

५. इधर मेरे देखने में बहुत से ऐसे ग्रन्थ, जो तीसरी से छठी शताब्दी तक लिखे गये थे, और जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए, आये हैं। (होना चाहिए—'इधर बहुत से ऐसे ग्रन्थ मेरे देखने में आये हैं, जो·········।)

६. महात्मा जी कार्य-समिति के सदस्यों से पहले यह वादा करा लेने पर कि ही बात-चीत का विषय केवल अगस्त प्रस्ताव वापस लेने का होगा, मिलने दिये जायँगे। (वाक्य शिथिल और दूरान्वयी तो है ही, इसमें 'कि ही' का प्रयोग तो बहुत ही भद्दा है।)

मिश्र वाक्यों में केवल विभक्तियों के ठीक स्थान पर न रहने के कारण उनकी जो दुर्दशा होती है, उसके कुछ उदाहरण लीजिये—

(१) आप हिन्दू महासभा के अधिवेशन के, जो दिसम्बर में होनेवाला है, उसके सभापति चुने गये हैं।

(२) उसी निवास-स्थान—जहाँ पिछले कई वर्षों से आप रहते थे—के बाहर आपका शव रखा गया था।

(३) नारायण मुलजिम, जिसे छः महीने की सजा हुई थी, की अपील मंजूर की गई।

वाक्य-रचना में एक बड़ा दोष उस समय भी होता है, जब उसमें का कोई पद या उप-वाक्य अपने ठीक स्थान पर न होकर आगे-पीछे हो जाय। साहित्यकारों ने इसे 'अक्रमत्व' और 'अस्थानस्थ पदत्व' दोष कहा है। इसी के साथ कभी-कभी वह दोष भी आ जाता है, जिसे 'विधेयाविमर्श' कहते हैं और जिसमें विधेय का विशेषण उद्देश्य के साथ लगा होता है।[१] इससे वाक्य भद्दा ही नहीं होता, बल्कि भ्रामक भी हो जाता है। कुछ उदाहरण लीजिये—

१. अधिकांश धातु की वस्तुएँ साफ करके यथास्थान रख दी गई थीं। (क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि वही वस्तुएँ साफ करके यथास्थान रखी गई थीं जो अधिकांश धातु की बनी हुई थीं ? होना चाहिए—धातु की अधिकांश वस्तुएँ साफ करके······ ।)

२. एक ऐसे मिस्तरी की आवश्यकता है जो कपड़ा धोनेवाला और टायलेट साबुन तैयार करनेवाला हो। (साधारणतः इसका अर्थ यही होगा कि ऐसे मिस्तरी की आवश्यकता है जो कपड़ा धोनेवाला हो और टायलेट साबुन तैयार कर सकता हो। होना चाहिए—···············जो कपड़े धोने के और··················· ।)

३. निद्रा से उठे हुए ब्रह्मा को मत्स्येन्द्र रूपधारी दानवों के शत्रु विष्णु ने प्रणाम किया। (इसका तो यही अर्थ होता है कि विष्णु सब दानवों के शत्रु नहीं थे, बल्कि केवल ऐसे दानवों के शत्रु थे,

---

१. इस प्रकार के दोषों के बहुत सूक्ष्म भेद जानने के लिए 'साहित्य दर्पण' का सातवाँ परिच्छेद देखिये।

जिन्होंने मत्स्येन्द्र का रूप धारण कर रखा था। लेखक का वास्तविक आशय यह है कि मत्स्येन्द्र रूपधारी विष्णु ने, जो दानवों के शत्रु थे, ब्रह्मा को प्रणाम किया। पर वाक्य से यह आशय नहीं निकलता।)

४. खेद है कि भारत सरकार तक अपनी पुरानी परम्परा पर चल रही है और तुम उसे तोड़ना चाहते हो। (लेखक का वास्तविक आशय तो यह है कि पुरानी परम्परा पर चलना ही ठीक है। भारत सरकार तक उसी परम्परा पर चल रही है। परन्तु खेद है कि तुम वह परम्परा तोड़ना चाहते हो। पर वाक्य की रचना से यह प्रकट होता कि मानों भारत सरकार के पुरानी परम्परा पर चलने पर ही खेद प्रकट किया जा रहा है।)

५. वह शिलालेख उसने अपनी भोजनशाला में खुदवाकर जड़वाया था। (इसका अर्थ तो यही होगा कि शिलालेख उसकी भोजनशाला में ही खोदा गया था। पर वास्तविक आशय यह है कि वह शिलालेख खोदा चाहे जहाँ गया हो, पर भोजनशाला में लगवाया गया था।)

६. दुर्भाग्यवश इस विषय की ओर पंडितों का जितना ध्यान जाना चाहिए, उतना नहीं गया। (क्या यह विषय ही ऐसा है, जिसकी ओर पंडितों का ध्यान दुर्भाग्य-वश ही जाना चाहिए? इस वाक्य में 'दुर्भाग्यवश' बहुत ही भद्दी जगह रखा है।)

अब कुछ लोग दुमदार वाक्यों की भी रचना करने लगे हैं। हम यह नहीं जानते कि वे एक नई शैली चलाने के लिए ऐसा करते हैं या वाक्य में जोर लाने के लिए; पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि ऐसे वाक्य भद्दे होते हैं और इनका प्रचार नहीं होना चाहिए। कुछ उदाहरण लीजिये—

१. परन्तु अन्यत्र समस्त शब्दों में सन्धि करना या न करना ऐच्छिक है, लिखने में।

२. इतना भाषा-विज्ञान के पंडितों की सेवा में उपस्थित किया गया, थोड़े में।

३. उसने 'निवेदिता' शीर्षक एक कविता छपाई थी, खड़ी बोली की।

अब हम एक और आवश्यक बात बतलाकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। अँग्रेजी व्याकरण में कथन के दो भेद किये गये हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। हम लोगों ने भी यह तत्त्व ग्रहण कर लिया है। यह हमारे लिए नितान्त निरर्थक तो नहीं है; कुछ अंशों में यह उपयोगी भी है और आवश्यक भी। पर बिना समझे-बूझे इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। एक उदाहरण लीजिये—'उन्होंने हुकुम दे दिया था कि उनके मकान के सामने रोज छिड़काव हुआ करे।' इस वाक्य में 'उनके' बहुत भ्रामक है। प्रत्यक्ष कथन के प्रकार में इसका रूप होगा 'उन्होंने हुकुम दे दिया था—हमारे मकान के सामने रोज छिड़काव हुआ करे।' परन्तु यदि इसे अप्रत्यक्ष कथनवाला रूप दिया जाय तो भी हिन्दी की प्रकृति के अनुसार इसमें 'था' और 'हमारे' के बीच में केवल 'कि' आना चाहिए। 'हमारे' की जगह 'उनके' नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार—'हिन्दुओं को चाहिए कि वे अपने बच्चों को बतावें कि भारत उनका है।' ठीक नहीं है। इसमें भी 'उनका' की जगह 'हमारा' या 'तुम्हारा' होना चाहिए। 'चाहे वे यह न जानते हों कि उन्होंने भूगोल सीखा है।' में 'उन्होंने' की जगह 'हमने' होना चाहिए। उक्त उदाहरणों में 'उनका' 'उनके' और 'उन्होंने' का प्रयोग केवल अँगरेजी के अप्रत्यक्ष कथनवाले प्रकार का अन्ध अनुकरण करने के कारण हुआ है। दूसरों का अनुकरण करने से पहले हमें अपनी भाषा की प्रकृति का भी कुछ विचार करना चाहिए।

एक बात और है। अँगरेजी व्याकरण का नियम है कि प्रत्यक्ष कथन में वक्ता और दूसरे के उद्धृत कथन के बीच में बेड़ी पाई दे देते हैं और उद्धृत वाक्य उद्धरण-सूचक चिह्नों के बीच में रखते हैं। परन्तु अप्रत्यक्ष कथन में वाक्य का वही रूप रखते हैं, जो रूप ऊपर के उद्धृत वाक्यों के हैं। हमारे यहाँ प्रायः लोग दोनों प्रकार मिला देते हैं। अर्थात् वे कहीं तो अप्रत्यक्ष कथन-प्रकार में भी प्रत्यक्ष कथन-प्रकार का रूप ले आते हैं और कहीं अप्रत्यक्ष कथन-प्रकार भी प्रत्यक्ष कथन के रूप में रखते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए। पहले दोनों के नियम अच्छी तरह समझने चाहिएँ और तब अपनी भाषा की प्रकृति का ध्यान रखते हुए ठीक तरह से उनका प्रयोग करना चाहिए।



६

क्रियाएँ और मुहावरे

साधारणतः बोल-चाल में चलती भाषा वही कहलाती है, जिसमें ऐसे सीधे-सादे और सहज शब्द हों जो सब लोगों के नित्य के व्यवहार में आते हैं। यह परिभाषा कुछ गलत तो नहीं है, परन्तु परिमित है—व्यापक नहीं है। चलती भाषा का इससे कुछ अधिक और गम्भीर आशय है। वास्तव में चलती भाषा वह कहलाती है, जिसमें शब्दों का प्रवाह बिलकुल ठीक तरह से चलता रहे—कहीं कोई खटक न हो, कोई रुकावट न हो। नित्य के व्यवहार की भाषा में थोड़े से शब्द और बँधे हुए वाक्य रहते हैं; और उनके कहने या समझने में किसी तरह की कठिनता नहीं होती। इसी लिए वह भाषा चलती हुई कहलाती है। यदि ऊँचे दरजे की साहित्यिक भाषा में भी यही गुण हों, तो वह भी चलती हुई भाषा कही जायगी। वास्तव में भाषा की गति या रौ ही ठीक होनी चाहिए; फिर चाहे वह भाषा बालकों के बोलने और समझने की हो और चाहे बड़े-बड़े विद्वानों के लिखने-पढ़ने की हो।

भाषा की गति ठीक रखने के लिये बहुत सी बातों की आवश्यकता होती है। शब्दों का ठीक चुनाव, व्याकरण के नियमों के अनुसार उनका ठीक क्रम, विभक्तियों और अव्ययों आदि का ठीक उपयोग, शब्दों के साथ उपयुक्त क्रियाओं का प्रयोग आदि बहुत सी बातें हैं जो भाषा की गति ठीक रखने में सहायक होती है। इन्हीं सब बातों के योग से भाषा मुहावरेदार होती है। शायद कुछ लोग यह समझते हों कि मुहावरेदार भाषा वह कहलाती है, जिसमें मुहावरों की खूब भर-मार हो। पर ऐसा समझना भूल है। केवल मुहावरे कभी भाषा को मुहावरेदार नहीं बना सकते। यदि भाषा की गति ठीक न हो तो वह कभी चलती हुई या मुहावरेदार नहीं कहला सकती।

भाषा की गति ठीक रखनेवाले अनेक तत्त्वों का अब तक विस्तृत विवेचन हो चुका है। केवल दो मुख्य बातें रह गई हैं[1]। एक तो क्रियाओं का ठीक प्रयोग; और दूसरे मुहावरे। हमारी समझ में यही दोनों बातें ऐसी हैं जो भाषा की गति ठीक रखने, उसमें उपयुक्त प्रवाह लाने और सरसता तथा ओज उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं। अतः यहाँ हम मुख्य रूप से इन्हीं दोनों बातों का विचार करना चाहते हैं। हाँ, यदि प्रसंगवश बीच में कुछ और बातें भी आ जायँ तो वे भी सही।

पहले क्रियाएँ लीजिये। सबसे अधिक प्रचलित क्रिया 'करना' है जो प्रायः सभी जगह लगती या लग सकती है। फिर भी कितने आदमी ऐसे हैं जो इस क्रिया का बिलकुल ठीक और उपयुक्त अवसर पर ही व्यवहार करना जानते हैं? सभी लोग कहते हैं—'मैं अपनी बात का स्पष्टीकरण करने के लिए तैयार हूँ।' पर कोई यह नहीं सोचता कि 'करना' का वाचक एक 'करण' तो पहले से मौजूद है ही। फिर उसके साथ अनावश्यक रूप से 'करना' क्यों लगाया जाय? क्यों न कहा जाय—'मैं अपनी बात के स्पष्टीकरण के लिए तैयार हूँ?' इसी प्रकार—'इन विषयों का ठीक तरह से वर्गीकरण किया गया है।' कहने की अपेक्षा यह कहना कहीं अच्छा होगा—'इन विषयों का ठीक तरह से वर्गीकरण हुआ है।' हमारा यह कहना नहीं है कि जिन शब्दों के अन्त में 'करण' हो, उनके साथ कभी 'करना' क्रिया या उसके किसी रूप का प्रयोग होना ही नहीं चाहिए। होना चाहिए, पर मौके से। जैसे—'आप अपने मत का स्पष्टीकरण कीजिये।' आप कहेंगे कि इससे भी अच्छा रूप होगा—'आप अपना मत स्पष्ट कीजिये।' बिलकुल ठीक। अवश्य ही यह अच्छा और बहुत अच्छा रूप है। फिर भी जो लोग बिना 'स्पष्टीकरण' शब्द का व्यवहार किये न रह सकते हों, उनके लिए इतनी गुंजाइश है; पर इससे अधिक नहीं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—'निर्भर' शब्द के साथ सभी लोग 'करना' क्रिया का प्रयोग करते हैं। 'यह विषय आप पर निर्भर करता है।' 'लड़कों

१—इनके सिवा कुछ और बातें भी हैं, जिनका विचार 'फुटकर बातें' शीर्षक प्रकरण में किया जायगा।

की पढ़ाई पुस्तक पर निर्भर करती है।' 'सरकार शान्ति-रक्षा के लिए पुलिस पर निर्भर करती है।' आदि सैकड़ों प्रयोग नित्य देखने में आते हैं। पर क्या कभी कोई इस बात का भी विचार करता है कि 'निर्भर' के साथ 'करना' क्रिया का प्रयोग ठीक है या नहीं? सब लोगों ने एक सीधा-साधा नियम-सा बना रखा है कि बात और हल्दी की तरह 'करना' भी जहाँ चाहो, वहाँ लगा दो। पर इस नियम में जो अपवाद हैं, उनकी ओर कभी किसी का ध्यान ही नहीं जाता। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो 'निर्भर' शब्द के साथ दो ही क्रियाओं का प्रयोग ठीक है—'रहना' और 'होना'। होना चाहिए—'यह विषय आप पर निर्भर है।' 'लड़कों की पढ़ाई पुस्तक पर निर्भर है।' और 'सरकार शांती-रक्षा के लिए पुलिस पर निर्भर है।' पर नहीं; एक प्रवाह चल पड़ा है और सब लोग आँखें बंद करके उसी में बहते चले जा रहे हैं।

श्रद्धा, भक्ति आदि और भी अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके साथ 'करना' क्रिया नहीं खपती; फिर भी उनके सिर वह मढ़ जरूर दी जाती है। 'मैं आप पर श्रद्धा (या भक्ति) रखता हूँ।' तो ठीक है। पर—'मैं आपकी श्रद्धा या भक्ति करता हूँ' का क्या अर्थ है? छोटे और बड़े सभी लेखक इस प्रकार के प्रयोग बिलकुल बे-धड़क होकर करते हैं, जिससे ये प्रयोग बहुत कुछ मँजते जा रहे हैं। इनकी खटक बहुत कुछ निकलती जा रही है; पर इसी लिए कि हम लोगों ने खटक की ओर ध्यान देना ही बिलकुल छोड़ दिया है।

यह तो एक ऐसी चलती हुई क्रिया का उदाहरण है, जिसमें खटक हम 'खटक' ही नहीं समझते। पर बहुत सी ऐसी क्रियाएँ भी हैं, जिनमें बहुत कुछ खटक है; पर हम दिन-पर-दिन उस खटक से भी उदासीन होने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। 'प्रश्न' के साथ 'करना' क्रिया ही अच्छी जान पड़ती है। फिर भी जिसे देखिये, वह 'प्रश्न पूछता' है। प्रश्न 'करनेवाले' बहुत कम दिखाई देते हैं, 'पूछनेवाले' सब हैं। इसी प्रकार दान 'करनेवाले' बहुत कम हैं, 'देनेवाले' सब। हम भी यदि 'दुग्ध-पान करना' छोड़कर 'दुग्धपान पीना' आरंभ करें तो आज-कल की प्रवृत्ति देखते हुए हम कह सकते हैं कि इसका भी अनुकरण करनेवाले कुछ लोग अवश्य निकल आवेंगे। ऐसे ही अवसरों पर भाषा की मर्यादा की रक्षा के

सुयोग्य लेखकों के नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

जहाँ 'करना' क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ तो वह जबरदस्ती लगाई जाती है ; पर जहाँ उसकी आवश्यकता होती है, वहाँ से वह निकाल बाहर की जाती है; और उसकी जगह नई-नई ऐसी क्रियाएँ लगाई जाती हैं, जिनसे भाषा भद्दी और बे-मुहावरे हो जाती है। कुछ लोग 'उन्नति करना' की जगह 'उन्नति देना' और 'प्रतीक्षा करना' की जगह 'प्रतीक्षा देखना' लिखते हैं। जैसे—'एक वर्ष तक उनकी प्रतीक्षा देखकर......।' 'निराश करना' की जगह लोग 'निराशा देना' लिखते हैं। जैसे—'हम लोग लेखकों को निराशा देते हैं।' 'स्मरण कराना' और 'सन्तोष कराना' की जगह प्रायः सभी लोग 'स्मरण दिलाना' और 'सन्तोष दिलाना' लिखते हैं। एक बड़े लेखक ने तो 'अनुभव करना' की जगह 'अनुभव लेना' तक लिखा है, जिसका शायद कोई अर्थ ही नहीं होता। 'भाषण करना' की जगह 'भाषण देना' (अँगरेजी की कृपा से) इतना आम हो गया है कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण यही है कि हम लोग अपनी भाषा की प्रकृति बिलकुल भूलते जा रहे हैं और दूसरों का अनुकरण ही अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

'करना' के बाद दूसरी परम प्रचलित क्रिया शायद 'आना' है। आज-कल की हिन्दी में 'करना' का जितना निरादर है, शायद उतना ही बल्कि उससे भी कुछ बढ़कर इस 'आना' का आदर है। जहाँ देखिये, वहाँ जबरदस्ती यह क्रिया लगाई जाती है। 'वह घबरा आया।' 'वह हँस आया।' 'वह रो आई' आदि प्रयोग चलने लगे हैं। एक पुस्तक में पढ़ा था—'बेचारा बुड्ढा विसातो डबडबा आया।' एक दूसरी पुस्तक में पढ़ा था—'अमुक समय मनुष्य जी आता है।' एक और जगह पढ़ा था—'तबीयत ऊब आती है।' और सबसे बढ़कर एक और जगह पढ़ा था—'मूर्छा आने ही वाली थी।' मानों मूर्छा का भी, रेल या डाक की तरह, आने का कोई निश्चित समय हो।

उर्दू के कुछ कवियों ने कुछ तो अपने यहाँ के स्थानिक प्रभावों के कारण और कुछ अपने छोटे-छोटे छंदों के अनुरोध से कुछ क्रियाओं के विलक्षण प्रकार से प्रयोग किये हैं। जैसे—

१—घटा की अक्ल और दाढ़ी बढ़ा की।
२—दिल मिलाकर खाक में ढूँढ़ा किया, खोया किया।
३—उनके देखे से जो आ जाती है रौनक मुँह पर।
४—एक वह हैं जिन्हें तसवीर बना आती है। आदि।

पर कुछ हिन्दी लेखक बिना यह तत्त्व समझे गद्य में भी इस प्रकार के प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'यह आशा की जाना ठीक नहीं।' 'वह बोला किया।' 'तुम देश देश में भटका किये हो।' 'तुम्हीं बहस में मुझसे सदा जीता किये हो।' आदि। पर इस प्रकार के प्रयोग हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हैं।

'दिखलाना' क्रिया का भी आज-कल खूब दुरुपयोग देखने में आता है। पुरानी हिन्दी में भी और आज-कल की कुछ स्थानिक बोलियों में भी 'दीखना' शब्द प्रायः मिलता है। इसी का दूसरा रूप होता है—'दिखना'। उसी 'दिखना' से लोग धीरे-धीरे 'दिखाना' पर आये; परन्तु सकर्मक अर्थ में नहीं, अकर्मक अर्थ में ही। और अब उससे भी कुछ आगे बढ़कर अकर्मक रूप में ही लोगे 'दिखलाना' तक का प्रयोग करने लगे हैं। अभी तक यह प्रवृत्ति कविता में ही थी, जो किसी सीमा तक क्षम्य भी मानी जा सकती थी। यथा—

वही तेज-हत हो है अब डूबता दिखाता।

अथवा

फूलों सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाता। आदि।

पर यह प्रवृत्ति बढ़कर गद्य में भी अपना अधिकार जमाना चाहती है। एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'पर अब इस बात की बहुत कम संभावना दिखलाती है।' एक पुस्तक में पढ़ा था—'वह सदा इसी में दिखाता।' मतलब था कि वह सदा इसी धुन में लगा हुआ दिखाई देता था। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। अकर्मक क्रियाओं का सदा अकर्मक अर्थ में ही और सकर्मक क्रियाओं का सदा सकर्मक अर्थ में ही व्यवहार होना चाहिए। यदि अकर्मक और सकर्मक में भेद न रखा जायगा, तो बहुत गड़बड़ी होगी। इसी प्रवृत्ति का फल यह है कि मान्य समझे जानेवाले एक सु-लेखक ने एक अवसर पर 'बोलना' का 'बुलना' रूप बना डाला था और लिखा था—'उनके मुँह से सदा शुद्ध किताब ही बुलती है।'

एक और प्रसंग है जिसमें लोग क्रियाओं के लिंग के सम्बन्ध में भूल करते हैं। व्याकरण का साधारण नियम यह है कि वाक्य की क्रिया सदा कर्त्ता या उद्देश्य के अनुसार होती है। पर कुछ लोग इस तत्त्व का ध्यान न रखकर भूल से विधेय के अनुसार ही क्रिया का रूप रख देते हैं। जैसे—

१—सारा राज्य उसके लिए एक थाती थी।

२—नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगी।

३—इनको कुछ उत्तर देना भूल होगी।

४—उन्होंने मुझे बम्बई घुमाई।

५—वह भू-भाग अनेक प्राकृतिक कुंजों की प्रसव भूमि थी।

६—यह सड़क भारत से आवागमन का रास्ता बनाया गया था। आदि।

यों सुनने में ये वाक्य भले ही कुछ अच्छे जान पड़ें, परन्तु व्याकरण की दृष्टि से हैं ये अशुद्ध ही। 'सारा राज्य उनके लिये एक थाती था।' तो सुनने में उतना नहीं खटकता; पर 'नेताओं को रिहा करना मूर्खता होगा।' और 'इनको कुछ उत्तर देना भूल होगा।' व्याकरण के अनुसार ठीक होने पर भी कानों में अवश्य कुछ खटकते हैं। चौथा वाक्य तो बिलकुल अशुद्ध ही है। अन्तिम दोनों वाक्य भी दूसरे और तीसरे वाक्यों के समान ही हैं। यदि यह कहा जाय कि ऐसे अवसरों पर वाक्य का रूप ही कुछ बदल दिया जाना चाहिए, तो यह भी कोई अच्छी मीमांसा नहीं हुई। यह तो पीठ दिखाकर भागना हुआ। ऐसी अवस्थाओं में व्याकरण के नियमों का पालन ही आवश्यक प्रतीत होता है। हाँ यदि वाक्य की कर्ण-कटुता दूर करना चाहें तो उसका रूप भले ही बदल दें। साथ ही हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यह विषय विद्वानों के लिये विचारणीय अवश्य है।

क्रिया-प्रयोगों की दुर्दशा के कुछ और उदाहरण लीजिये :—

१. वे अभी दक्षिणी युरोप से योजना बाँधकर लौटे हैं।

२. यह सुनते ही उसका चेहरा गिर गया। (मानों हनुमान जी या काली जी के चेहरे की तरह ऊपर से लगा हुआ था।)

३. उन्हें देखते ही माधव की मुद्रा उदास हो गई। (माधव का शायद उस उदासी से कोई सम्बन्ध नहीं था।)

४. लिखने की कला का बहुत कुछ मसाला उन्होंने कमा लिया था।

५. उसने गंभीरता की आकृति बनाते हुए कहा। (शायद वह कलम लेकर गम्भीरता का चित्र अंकित करने लगा था।)

६. आखिर रोटी-दाल कैसे निभेगी ?

७. पास ही पुराना किला था जो बिलकुल फूटा हुआ पड़ा था। (हिन्दी के भाग्य की तरह !)

८. पेरिस रेडियो में यह समाचार बताया गया है।

९. वहाँ फूलों की प्रदर्शिनी बुलाई जानेवाली है।

१०. आज रोटी शुरू करने में बहुत देर हो गई। (मतलब रसोई बनाने से है)

११. उन्हें जीते जी कब्र दिये जाने का एक मात्र कारण यह है कि……।

१२. साहब ने उनके सामने अपना रोना गाया।

१३. इसके सेवन से महिलाएँ इच्छानुसार गर्भ बन्द कर सकती हैं।

'अट्टहास हो उठा।' 'उन्होंने खूब आनन्द उठाया।' 'वह पड़ा हुआ निद्रा ले रहा था।' 'मैंने बहुत परिश्रम उठाकर यह काम किया है।' 'साम्राज्यवाद अब लड़खड़ा उठा है।' 'उसकी आँखें विश्वास माँगती थीं।' 'बात की बात में ढेर खड़ा हो जाता था।' 'तुम दूसरों के पैर में अड़ंगा डालते हो।' 'एक को दूसरे की आवश्यकता की कीमत लगती थी।' 'वह आराम को किनारा देता रहा है।' 'दूसरों को हँसी दिलाने के लिए उसमें बे-ढंगापन बहुत था।' 'मैं इसका और क्या कारण दे सकता हूँ।' सरीखे प्रयोग हमारी भाषा की प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध और अशुद्ध हैं। दिलचस्पी लेना, स्वार्थ लेना, भाग लेना, शपथ लेना, स्नेह माँगना, साहस देना, भरोसा पाना, फिक्र बाँधना, माँग करना आदि सैकड़ों विलक्षण क्रिया-प्रयोग नित्य देखने में आते हैं और उनकी संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी होती जाती है। 'अभियोग लगाना' तक तो ठीक है, पर अब कुछ लोगों ने 'अभियोग चलाना' भी आरम्भ कर दिया है। मानों सब लोगों ने मिलकर हिन्दी में इस तरह के भद्दे प्रयोगों की भर-मार कर देने के लिये कमर कस ली है। कहाँ तक गिनती गिनाई जाय ! इस प्रकार के प्रयोग हमारी मानसिक दास-वृत्ति और उच्छृंखलता के सूचक तथा भाषा के कलंक हैं।

बहुत से लोग 'गप लड़ाना' और 'गप हाँकना' में कोई अन्तर नहीं समझते। खाली बैठे-बैठे इधर-उधर की बातें करने को 'गप लड़ाना' कहते हैं; और अपने सम्बन्ध में अथवा इधर-उधर की कोई बात बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहने को 'गप हाँकना' कहते हैं। 'घुटना टेकना' सुस्ताने को कहते हैं; और 'घुटने टेकना' किसी के आगे झुककर अधीनता स्वीकृत करने को कहते हैं। परन्तु कई जगह इनमें से एक का प्रयोग दूसरे के स्थान पर होता हुआ देखा गया है। भाँग 'छानी' जाती है और शराब या बोतल 'ढाली' जाती है। पर प्रायः लोग लिखते हैं—'वह शराब छानता था।' 'वहाँ बोतल छन रही थी।'

कभी-कभी लोग क्रिया-प्रयोगों और महावरों का ठीक-ठीक अन्तर न समझने के कारण ही भद्दी भूलें कर जाते हैं। यद्यपि हिन्दी शब्द-सागर में 'सेंध' के क्रिया-प्रयोगों में 'देना' और 'लगाना' के साथ भूल से 'मारना' भी दे दिया गया है, पर वास्तव में 'सेंध' के साथ 'मारना' क्रिया-प्रयोग नहीं है, बल्कि 'सेंध मारना' मुहावरा है। इसी लिए 'सेंध लगाने का सामान' तो ठीक है, पर 'सेंध मारने का सामान' ठीक नहीं है। फिर भी एक अखबार में छपा था—'वह सेंध मारने के सामान के साथ पकड़ा गया।'

'कहा-सुनी' का कुछ विशेष अर्थ है। जब दो आदमियों में कुछ क्रोधपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर या साधारण जबानी झगड़ा होता है, तब उसे 'कहा-सुनी' कहते हैं। पर हमने कई लेखकों को साधारण बात-चीत के अर्थ में भी इसका प्रयोग करते हुए देखा है। 'क्या तो हिन्दीवाले, क्या तो उर्दूवाले,' 'न ही यह, न ही वह' आदि विलक्षण प्रयोग भी बढ़ते चल रहे हैं। 'न जाने' की जगह खाली 'जाने' का प्रयोग होने लगा है। न जाने इस खाली 'जाने' का लोग क्या अर्थ समझते हैं। यदि वे इसका भी वही अर्थ समझते हों जो 'न जाने' का है, तो फिर इसी से समझ लीजिये कि और और शब्दों के वे न जाने क्या क्या अर्थ समझते होंगे!

हम ऐसे महानुभावों को बहुत ही नम्रतापूर्वक बतलाना चाहते हैं कि हिन्दी कोई ऐसी विश्रृंखल भाषा नहीं है जिसमें शब्दों और क्रियाओं का मन-माना प्रयोग हो सके; न कोई उन्नत भाषा कभी ऐसी विश्रृंखल होती है। भाषा में प्रत्येक शब्द और प्रत्येक क्रिया का कुछ निश्चित अर्थ, कुछ निश्चित स्थान

और कुछ निश्चित प्रयोग होता है; और उनका दुरुपयोग भाषा के लिए सदा घातक ही होता है, श्रीवर्द्धक नहीं। इसलिए प्रत्येक शब्द और प्रत्येक क्रिया का प्रयोग करते समय बहुत ही ध्यानपूर्वक देख लेना चाहिए कि वह अपने ठीक स्थान पर है या नहीं। यदि अपनी समझ में न आवे तो दूसरों से पूछ लेना उतना लज्जाजनक नहीं है, जितना बिना समझे-बूझे लिख चलना है।

अब जरा क्रियाओं का क्षेत्र छोड़कर मुहावरों के मैदान में आइये। मुहावरों का प्रयोग भाषा में सौन्दर्य लाने के लिये होता है। पर यदि वे मुहावरे स्वयं ही बे-मुहावरे हों तो उनसे भाषा में क्या सौन्दर्य आ सकता है? मुहावरों के बे-ढंगे प्रयोग करके हम भाषा को श्री-हत करने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। यह भी हिन्दी का दुर्भाग्य ही है कि इसके लेखकों में मुहावरों की दुर्दशा करनेवालों की संख्या भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है।

'मुहावरा' उस गठे हुए वाक्यांश को कहते हैं जिससे कुछ लक्षणात्मक अर्थ निकलता है और जिसकी गठन में किसी प्रकार का अंतर होने पर वह लक्षणात्मक अर्थ नहीं निकल सकता। जैसे—'इस दूकान में लाखों रुपये लगे हैं।' में 'रुपये लगना' मुहावरा है। दूकान में लाखों रुपये या लाखों रुपयों के नोट जड़े या चिपके हुए नहीं होते। अतः शब्दार्थ की दृष्टि से वाक्य निरर्थक है। पर उसका लक्षणात्मक अर्थ यह है कि इस दूकान में जो कार-बार होता है, उसमें लाखों रुपये लगे हैं। अतः 'रुपये लगना' मुहावरा हुआ। कुछ लोग बोल-चाल के प्रचलित और शिष्ट-सम्मत प्रयोगों को ही मुहावरा कहते हैं, पर वास्तव में यह मुहावरे का दूसरा अर्थ है। आगे के पृष्ठों में जो विवेचन है, वह इन दोनों ही अर्थों के सम्बन्ध में है।

कोई पचीस-तीस वर्ष पहले महाराज रणजीतसिंह की एक जीवनी देखने में आई थी। सब कुछ लिख चुकने के बाद लेखक ने अन्त में लिखा था—'बस तभी से पंजाब के गले में पराधीनता की बेड़ियाँ पड़ गईं।' पढ़कर कुछ हँसी आई थी। सोचा था कि लेखक यह नहीं जानता कि बेड़ियाँ पैरों में पड़ती हैं। पर उन दिनों हिन्दी लिखी कम जाती थी; इसी लिए मुहावरों की इस प्रकार की दुर्दशा भी कम होती थी। तब से अब तक हिन्दी ने बहुत उन्नति की है—उसमें बहुत अधिक साहित्य प्रस्तुत होने लगा है। पर खूबी यह है कि

मुहावरों की दुर्दशा भी उसी अनुपात में बढ़ रही है। एक समाचारपत्र में पढ़ा था—'सम्पादकों का गला घोंटने के लिये सदा उनके सिर पर दमन की तलवार लटकती रहती है।' मानों तलवार ने गला काटने का काम छोड़कर गला घोंटने का पेशा अख्तियार कर लिया हो। एक पुस्तक में पढ़ा था—'उसने भिड़ना तलवार की नोक पर चलना है।' भले आदमी ने यह न सोचा कि तलवार की नोक पर कोई चल ही कैसे सकता है! मुहावरा है—'तलवार की धार पर चलना।' पर उद्देश्य तो रहता है अपनी मुहावरेदानी दिखलाना। लेखक समझ लेते हैं कि हमारे पाठक भी हमारी ही तरह होंगे। ऐसे लोगों को जानना चाहिए कि यदि पाठक ऐसे हों भी तो विशेष चिन्ता की बात नहीं है। पर लेखकों का ऐसा होना बहुत ही लज्जाजनक है!

एक मासिक पत्र में एक कहानी के अन्तर्गत पढ़ा था—'उसकी हुलिया तंग थी।' पहली बात तो यह है कि हुलिया स्त्रीलिंग नहीं, पुल्लिंग है। और दूसरी बात यह है कि हुलिया बनता या बिगड़ता है, तंग तो 'काफिया' हुआ करता है। पर लेखक को इससे क्या मतलब! भाषा में कुछ मुहावरेदारी आनी चाहिए; और वह 'हुलिया तंग' से आ ही गई थी।

एक पुस्तक में पढ़ा था—'वह प्रसन्नता के पारावार में बह चले।' एक और जगह पढ़ा था—'वहाँ जान पर कुरबान होनेवालों की कमी नहीं थी।' 'जान कुरबान करनेवाले' तो ठीक है, पर 'जान पर कुरबान' होने का क्या अर्थ है? एक पुस्तक में पढ़ा था—'लाज और लिहाज के मोरचे टूट पड़े।' लेखक महोदय शायद यह जानते ही नहीं थे कि हिन्दी में 'टूट पड़ना' एक खास मुहावरा है, जिसका एक खास मतलब होता है। विद्वान् माने जानेवाले एक लेखक के भाषण में पढ़ा था—'युग की माँग का यह बीड़ा कौन चबाता है?' भला 'बीड़ा चबाना' कहाँ का मुहावरा है? मुहावरा है—बीड़ा उठाना।

और भी बहुत-से ऐसे मुहावरे हैं, समय समय पर जिनकी बहुत दुर्दशा देखने में आती है। असल मुहावरा 'मलिया-मेट करना' है, जो एक विशेष खेल से लिया गया है। पर जिसे देखिये, वह 'मटिया-मेट' ही लिखता है, जिसका कुछ अर्थ ही नहीं होता। हिन्दी में एक मुहावरा है—'कसर न करना' और इसी से मिलता-जुलता दूसरा मुहावरा है—'कुछ उठा न रखना।' पर

प्रायः लोग इन दोनों मुहावरों को एकमें मिलाकर ऐसी चटनी बनाते हैं कि दोनों पूरी तरह पिस जाते हैं। 'कसर न रखना' और 'कसर न उठा न रखना' इसी चटनी के बे-सवाद नमूने हैं। इसी प्रकार 'किसी से पाला पड़ना' और 'किसी के पल्ले पड़ना' दो अलग मुहावरे हैं; पर इनका भी विलक्षण मिश्रण देखने में आता है। प्रायः लोग लिख जाते हैं—'वह ऐसे आदमी के पाले पड़ा था।' एक गीत है—'ऐसे बेदरदी के पाले पड़ी गोइयाँ, हमसे भरावे गगरिया।' होना चाहिए—'ऐसे आदमी से (उसका) पाला पड़ा था।' या 'वह ऐसे आदमी के पल्ले पड़ा था।' इस मुहावरे का बहुत ही भद्दा प्रयोग एक समाचारपत्र में इस प्रकार हुआ था—'उन्होंने अपनी किस्मत हमारे पल्ले अटका रखी है।' मुहावरे के फेर में सारा वाक्य बे-सिर-पैर का हो गया है। कुछ कुछ यही बात 'मिलना-जुलना' और 'घुलना-मिलना' के संबंध में भी होती है।

एक प्रसिद्ध मुहावरा है—'कटे पर नोन छिड़कना।' यदि शरीर में किसी कटी हुई जगह पर नमक लग जाता है तो बहुत छरछराहट होती है। इसी से यह मुहावार बना है। उर्दू में इस मुहावरे का बहुत प्रयोग हुआ है। एक शेर है—

नमक छिड़को, नमक छिड़को, मजा इसमें ही आता है।
कसम ले लो, नहीं आदत मेरे जख्मों को मरहम की॥

इससे सूचित होता है कि घाव पर मरहम लगाने का जो फल होता है, ठीक उसका उलटा फल नमक लगने का होता है। कुछ लोग इसकी जगह 'जले पर नमक छिड़कना' का प्रयोग करते हैं जो बिलकुल गलत है। जले पर नमक तो एक तरह से दवा का काम देता है। पर हमारे यहाँ बहुत दिनों से भूल से 'जले पर नमक' ही चला आ रहा है। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास जैसे परम सुविज्ञ भी कह गये हैं—

अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥

कभी कभी लोग मुहावरों के ठीक रूप और अर्थ न जानने के कारण भी कई तरह की भूलें कर जाते हैं। एक प्रसिद्ध गीत है—

अवधि बदि सैयाँ अजहूँ न आये।

इसमें 'अवधि बदना' पुराना मुहावरा है, जिसका अर्थ है—अवधि

निश्चित करना या कोई काम करने का ठीक समय बतलाना। पर अधिकांश संगीत-प्रेमियों के मुँह से इसका यही रूप सुना जाता है—

अवधपति सैयाँ अजहूँ न आये।

इसमें 'अवधपति' का इसलिए भी कुछ अर्थ नहीं है कि इसके बाद-वाला पद (जिसे संगीत में अंतरा कहते हैं) है—

ठाढ़ी अटा पर कृष्ण पुकारे·········।

इसी प्रकार एक मुहावरा है—'बातें बनाना', जिसका अर्थ है गढ़-गढ़कर या झूठी बातें कहना। एक दादरे में यह मुहावरा इस प्रकार आया है—

हटो जाओ न मोसों बनाओ बतियाँ।

पर प्रायः लोग मुहावरे का ठीक रूप न समझने के कारण कहते हैं—

हटो जाओ न झूठी बनाओ बतियाँ।

वास्तव में 'बातें बनाना' में ही झूठापन आ जाता है, अतः 'बनाओ बतियाँ' से पहले 'झूठी' विशेषण निरर्थक होता है। हमने गद्य साहित्य में भी कई जगह 'झूठी बातें बनाना' का प्रयोग देखा है।

बहुत से लोग भाषा में जबरदस्ती मुहावरेदारी लाने के फेर में पड़कर बे-तरह मुँह के बल गिरते हैं। बंगाल के भीषण अकाल के समय इस प्रांत के एक समाचारपत्र ने लिखा था—'प्रांतीय सरकार दम भरती है कि इस प्रांत में भी ऐसी अकाल की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना है।' यहाँ 'दम भरना' मुहावरे का बिलकुल गलत और उलटा प्रयोग हुआ है। 'किसी बात का 'दम भरना' का अर्थ होता है—किसी बात का पूरा भरोसा रखकर अभिमानपूर्वक उसका वर्णन करना। इस दृष्टि से उक्त वाक्य की रचना से सूचित होता है कि प्रांतीय सरकार को इस बात का पूरा विश्वास है कि इस प्रांत में भी वही स्थिति उत्पन्न हो जायगी जो बंगाल में उत्पन्न हुई है; और अपना यह विश्वास वह प्रसन्न होकर और अभिमानपूर्वक प्रकट कर रही है! साथ ही यह भाव भी प्रकट होता है कि वह इसके लिये प्रयत्न कर रही है; और आशा है कि उसका यह प्रयत्न शीघ्र ही सफल भी होगा। कैसा अनर्थ है!

एक पुस्तक में पढ़ा था—'उसके कदम आगे बढ़ने में सहम जाते थे।' कदम नहीं सहमते, सहमता आदमी है। होना चाहिए था—'वह आगे कदम

बढ़ाने में सहमता था।' एक और जगह पढ़ा था—'उसका सिर चक्कर काटता था।' मानों सिर उसके धड़ से अलग होकर आकाश में चक्कर लगा रहा था! सीधी तरह से होना चाहिए था—'उसका सिर चकरा रहा था।' एक और पुस्तक में पढ़ा था—'तिस पर तुक्का यह कि उलटे बंगाल सरकार पर तोहमत लगाई जाती थी।' इसमें 'तुर्रा' की जगह 'तुक्का' कद दिया गया है। क्या करें, बेचारों को मुहावरेदारी लाचार करती है।

मुहावरों के संबंध में प्रायः एक और विलक्षण बात देखने में आती है। वह यह कि बहुत से लोग मुहावरों और कहावतों में कोई अंतर ही नहीं समझते। और जो लोग यह अंतर समझते भी हैं, वे भी प्रायः दोनों एक में मिला देते हैं। बहुत दिन हुए, पटने से हिंदी मुहावरों की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें मुहावरों के साथ बहुत सी कहावतें भी मिला दी गई थीं। यही बात पं० ब्रजमोहन दत्तात्रय 'कैफी' की उर्दू पुस्तक 'कैफियः' में भी देखने में आई है। कई कोषों में भी हमने प्रायः ऐसा ही देखा है। मुहावरे तो वास्तव में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग ही होते हैं, पर कहावतें किसी कहानी या चिर-सत्य के आधार पर बने हुए पूरे वाक्य के रूप में होती हैं। मुहावरों का प्रयोग तो वाक्यों के अंतर्गत ही हो सकता है, पर कहावतों का प्रयोग बिलकुल स्वतंत्र रूप से और किसी विषय को केवल स्पष्ट करने के लिये होता है। मुहावरा यदि वाक्य में से निकाल दिया जाय तो उसकी बहुत कुछ शोभा जाती रहती है। पर कहावतें निकाल देने पर प्रायः ऐसा नहीं होता। कुछ प्रसिद्ध कहावतें ये हैं—

१. गधा पीटने से घोड़ा नहीं बनता।
२. खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है।
३. आम के आम, गुठलियों के दाम।
४. आम खाने से काम है, पेड़ गिनने से नहीं।
५. दूध का दूध, पानी का पानी।
६. सौ सुनार की, एक लुहार की।
७. सिर मुँडाते ही ओले पड़े।
८. धोबी का कुत्ता, घर का न घाट का।
९. मन चंगा तो कठौती में गंगा।

१०. एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा। आदि।

कभी-कभी कहावतों से कुछ ऐसे पद भी बन जाते हैं जो संज्ञा या विशेषण के समान काम देते हैं। जैसे—ऊट-पटाँग है तो विशेषण, पर वास्तव में यह 'ऊँट पर टाँग' कहावत से बना है जो अब प्रचलित नहीं है। पर दोनों का आशय एक ही है।

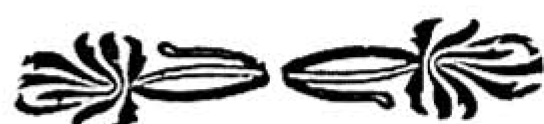
कुछ लोग शब्दों के साथ लगी हुई साधारण क्रियाओं को भी मुहावरों के अंतर्गत मान लेते हैं। 'सन्नाटा छाना' कोई मुहावरा नहीं है, क्योंकि इसके शब्दों से निकलनेवाले अर्थ से भिन्न इसका कुछ भी भाव नहीं है। इसी प्रकार 'नथने फड़कना' भी कोई मुहावरा नहीं है, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की मानसिक अवस्था की शारीरिक प्रतिक्रिया मात्र है। 'खिचड़ी दाढ़ी' और 'नीबू-निचोड़' आदि भी मुहावरे नहीं हैं। ये तो यौगिक पद हैं जो किसी विशिष्ट तथ्य के सूचक मात्र हैं।

जैसा कि हम पहले एक अवसर पर बतला चुके हैं, मुहावरों के संबंध में ध्यान रखने योग्य एक बड़ा तत्त्व यह है कि वे कुछ खास शब्दों में ही बँधे हुए होते हैं; और इसी लिए एक भाषा के मुहावरे का दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। उर्दू का एक मुहावरा है—'नजर लगना' और हिन्दी का एक मुहावरा है—'आँख लगना'। 'नजर' और 'आँख' एक सीमा तक समानार्थी ही हैं। पर हम 'नजर लगना' की जगह 'आँख लगना' नहीं कह सकते। इसी प्रकार उर्दू का एक मुहावरा है—'किसी का काम तमाम करना', जिसका अर्थ है—'किसी को मार डालना।' पर हमने कुछ स्थानों में इसकी जगह 'काम पूरा करना' का भी प्रयोग देखा है, जिसका वह अर्थ ही नहीं होता। जून सन् १९४४ में गांधी जी और सरकार का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ था, उसका सारांश देते समय एक समाचार-पत्र ने लिखा था—'आपने आग से खेला।' इस वाक्य में व्याकरण संबंधी जो दोष (आपने खेला) है, वह तो है ही, दूसरा दोष यह है कि इसमें का 'आग से खेला' अँगरेजी मुहावरे Played with fire का अनुवाद है। यदि अनुवाद करते समय कोई मुहावरा सामने आ जाय तो होना तो यह चाहिए कि अपनी भाषा में उससे मिलता-जुलता कोई मुहावरा ढूँढ़ा जाय; और

यदि वह न मिले तो उसका भाव ऐसे ढंग से प्रकट किया जाय जो अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो। यदि उक्त वाक्य में 'आग से खेलवाड़ किया' भी होता तो मजे में काम चल सकता था। पर नहीं, यहाँ तो 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाला न्याय चलता है।

एक पुस्तक में एक ऐसे सज्जन का लेख पढ़ने को मिला था, जिन्होंने अँगरेजी ढंग के भद्दे मुहावरों की टकसाल सी खोल रखी है। उन्होंने लिखा था—'कभी भूले और ढीले क्षण में भी उनके मुँह से कोई खोटी बात नहीं निकलती थी।' अब जो उनकी तरह अँगरेजीदाँ न हो, वह 'भूले और ढीले क्षण' का क्या अर्थ समझे? और जब 'भूले और ढीले क्षण' हो सकते हैं, तब शायद 'याद और चुस्त क्षण' भी जरूर हो सकेंगे। इन्हीं सज्जन ने अपने एक उपन्यास में एक अँगरेजी मुहावरे के अनुकरण पर लिखा है—'वह कमरे के बाहर तैर गई।' और 'वह कमरे में अकेला रहकर अँधेरा पड़ गया।' यहाँ आकर मानों हद हो गई!

सारी बात यह है कि लोगों को न तो अपने घर की पूँजी का पता होता है और न अपनी भाषा की प्रकृति का। दूसरों के पास कुछ देखते ही उनकी आँखें चौंधिया जाती हैं और उसी को नोच-खसोट कर वे ले भागने का प्रयत्न करते हैं। वे किसी विषय में 'रुचि लेते हैं।' किसी 'बात में स्वार्थ लेते हैं।' और 'लज्जित-से हो पड़कर' किसी की 'आँखों में आँखें डालकर' उससे बातें करते हैं; और आवश्यकता पड़ने 'एक दो बातें कस देते' हैं। इसी वर्ग के लोग रामायण, महाभारत और रीति-काल के साहित्य की घोर निन्दा करते हुए देखे जाते हैं; और ईलियड, रोमियो-जूलियट तथा आधुनिक रूस के आदर्शों की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते। बस इसी तरह के लोगों के हाथों आज-कल बेचारी हिंदी बे-मौत मारी जा रही है!



७

लिंग और वचन

एक प्रतिष्ठित और बड़े दैनिक पत्र के एक भूतपूर्व सम्पादक ने एक बार अपने किसी लेख में 'लालच' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया था, जो उसी प्रकार छप भी गया था। सुनते हैं, जब दूसरे दिन उनके किसी सहायक ने धृष्टतापूर्वक इस भूल की ओर उनका ध्यान दिलाया, तब उन्होंने छूटते ही उत्तर दिया—'वाह ! लालच पुंलिंग कैसे है ? सब लोग कहते हैं—लालच बुरी बलाय !' यह बात उन्होंने कुछ इस तरह डपटकर कही थी कि बेचारे सहायक को उन्हें यह समझाने का साहस ही न हुआ कि इस कहावत में 'बुरी' शब्द 'बलाय' का विशेषण है, 'लालच' का नहीं। फलतः कुछ दिनों तक उस पत्र में 'लालच' बराबर स्त्रीलिंग ही लिखा जाता रहा। एक और स्वर्गीय सम्पादक 'झूठ' शब्द स्त्रीलिंग ही मानते और लिखते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने कई बार उनका भ्रम दूर करने का प्रयत्न किया; पर वे इतने हठी थे कि किसी तरह मानते ही न थे। अपनी यह टेक उन्होंने अन्त तक निबाही !

वास्तव में हिन्दी में लिंग-निर्णय की समस्या है भी बहुत कठिन। बहुत से अन्य भाषा-भाषी तो हिन्दी से इसी लिए घबराते हैं कि इसमें लिंगों का विलक्षण पचड़ा लगा है। इसी लिये कई बार यह प्रस्ताव भी हो चुका है कि क्रियाओं और विशेषणों आदि पर से लिंग का बन्धन हटा दिया जाय। पर इस प्रकार के प्रस्ताव करनेवाले लोग यह नहीं समझते कि भाषा का एक स्वाभाविक या प्रकृति-युक्त स्वरूप हुआ करता है; और उसी स्वरूप या प्रकृति के अनुसार उसका विकास होता है। भाषा को जबरदस्ती नया रूप देने या नये ढंग से भाषा गढ़ने का प्रयत्न कभी सफल नहीं होता। भाषा में अनेक प्रकार के सुधार तो हो सकते हैं, परन्तु उसमें किसी प्रकार का तात्विक

परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि भाषा अपने स्वाभाविक प्रवाह में चलती-चलती भले ही कोई नया रूप धारण कर ले। पर वह प्रवाह जबरदस्ती और जादू की छड़ी घुमाकर बदला नहीं जा सकता।

हिन्दी की आकर भाषा संस्कृत है। हमारे यहाँ के अधिकांश शब्द और व्याकरण सम्बन्धी अधिकांश नियम संस्कृत से ही आये हैं; और बहुत-सी बातों में हमें संस्कृत का ही मुखापेक्षी रहना पड़ता है। अनेक अवसरों पर हम संस्कृत से अलग और दूर भी हो जाते हैं। अग्नि, आत्मा, देह, पवन, राशि और शपथ आदि अनेक शब्द संस्कृत में तो पुंल्लिंग हैं, परन्तु हिन्दी में स्त्रीलिंग माने जाते हैं। हमारे व्याकरण का साधारण नियम यह है कि संस्कृत के नपुंसक लिंगवाले शब्द भी पुंल्लिंग ही माने जाते हैं। परन्तु संस्कृत के पुस्तक, वस्तु, आयु और जय आदि कुछ नपुंसक लिंग शब्द भी हिन्दी में स्त्री-लिंग ही लिखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'तारा' और 'देवता' आदि शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत में स्त्रीलिंग होने पर भी हमारे यहाँ पुंल्लिंग ही माने जाते है। इन सब बातों से यही सूचित होता है कि हिन्दी की प्रकृति अनेक अंशों में संस्कृत की प्रकृति से भिन्न है।

अपनी भाषा की प्रकृति ठीक-ठीक न समझने के कारण, और कुछ अवसरों पर विदेशी प्रभाव के कारण, हम कभी-कभी भारी भूलें कर जाते हैं। प्राचीन आर्य अपने देश का नाम पुंल्लिंग ही रखते थे। आर्यों की जो जरमन शाखा युरोप में बसती है, वह अपने देश को 'मातृभूमि' नहीं, बल्कि 'पितृदेश' कहती है। 'मातृभूमि' की कल्पना तो आर्यों से भिन्न लोगों की है। विदेशी प्रभाव के कारण अँगरेज अपने देश को 'मातृभूमि' कहते हैं। हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' है। हमारे यहाँ 'जन्मभूमि' और 'भारत-लक्ष्मी' (संबंध तत्पुरुष समास) आदि की जो कल्पनाएँ हैं, वे 'पितृ-देश' की कल्पना से बिलकुल भिन्न अर्थ- और भाववाली हैं। परन्तु अँगरेजों की देखा-देखी हम लोग भी अपना पूर्व स्वरूप भूलकर अपने देश में स्त्रीत्व का आरोप करने लग गये हैं। सबसे पहले लाहौर में 'भारत-माता हाल' की स्थापना हुई थी। तब से 'भारत माता' इतना प्रचलित हो गया कि काशी तक में 'भारत माता का मन्दिर' बन गया। और अब तो भरी सभाओं आदि में लोग निस्संकोच

होकर 'भारत माता की जय' का घोष करते हैं। पर है यह हमारी मूल प्रकृति और धारणा तथा 'भारत' शब्द के लिंग के विरुद्ध ही।

हमारे यहाँ कुछ प्रान्तीय विलक्षणताएँ भी हैं। पंजाब में अखबार, तार, गेहूँ आदि कुछ शब्द स्त्रीलिंग माने और बोले जाते हैं, पर हिन्दी में ये पुंल्लिंग ही हैं। बिहारवाले दही, मोती और हाथी के लिए भी प्रायः स्त्रीलिंग का ही व्यवहार करते हैं; पर हिन्दी में ये शब्द निश्चित रूप से पुंल्लिंग ही हैं। फारसी का 'बाजू' पुं० है; और हिन्दी में भी वह पुं० ही माना जाता है; पर मराठी प्रभाव के कारण बहुत से लोग लिखते हैं—'जमा की बाजू'। हम लोग तो संस्कृत के अनुकरण पर 'चर्चा' शब्द स्त्रीलिंग ही मानते हैं, परन्तु उर्दू-वाले उसे पुल्लिंग रखते हैं। यथा—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम।
वह कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता॥

हमारे यहाँ का 'धारा' शब्द है तो स्त्रीलिंग ही, पर उर्दूवाले उसे पु० मानते हैं। संस्कृत 'कंदुक' से निकला हुआ 'गेंद' शब्द हिन्दी में पुल्लिंग ही है। परन्तु व्रज में वह स्त्रीलिंग माना जाता है। इसके लिए व्रजवाले सूरदास जी का यह चरण प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं—'खेलत गेंद गिरी जमुना में'। एक और गीत है—'मार्‌यो टोल गेंद गई दह . . .।' इस संबंध में हमारा नम्र निवेदन यही है कि हिन्दी का जो व्यापक और राष्ट्रीय स्वरूप है, उसे इस प्रकार के विकारों से दूर ही रखना चाहिए। जो शब्द व्यापक रूप से स्त्रीलिंग अथवा पुल्लिंग मान लिये गये हैं, उनमें केवल प्रांतीयता के आधार पर लिंग-विपर्यय नहीं करना चाहिए। यदि प्रत्येक शब्द का एक निश्चित और स्थिर लिंग रखा जायगा तो भाषा में लिंग-सम्बन्धी गड़बड़ी की सम्भावना बहुत कम हो जायगी।

आज-कल भाषा में लिंग सम्बन्धी बहुत सी उलझनें और बहुत से प्रमाद देखने में आते हैं। एक ही पुस्तक या लेख में कुछ शब्द (जैसे गन्ध, सूँड, हठ, दलदल आदि) कहीं स्त्रीलिंग में और कहीं पुल्लिंग में व्यवहृत होते हुए देखे जाते हैं। कभी कभी इससे भी बढ़कर विलक्षणता यह देखने में आती है कि एक शब्द पहले तो पुल्लिंग में व्यवहृत होता है, पर आगे

चलकर उसी का विभक्ति-युक्त या बहुवचन रूप स्त्रीलिंग रखा जाता है। हमने एक अवसर पर देखा था कि एक लेखक ने 'तारा' शब्द पुल्लिग में ही रखा था; पर उसका बहुवचन 'ताराओं' दिया था। ऐसे सज्जनों को जानना चाहिए कि पुल्लिग 'तारा' का विभक्तियुक्त बहुवचन रूप 'तारों' होगा; और स्त्रीलिंग 'तारा' का उस प्रकार का रूप 'ताराओं' होगा। इसके विपरीत 'माला' शब्द है तो सर्वथैव स्त्रीलिंग ही; फिर भी कुछ लोग 'मालाओं के दाने' न लिखकर 'मालों के दाने' लिखते हैं। कुछ इसी तरह की गड़बड़ी 'ओषधि' और 'औषध' आदि शब्दों में भी होती है। संस्कृत में 'ओषधि' पुल्लिग और 'औषध' स्त्रीलिंग है। परन्तु हिन्दी में ये दोनों ही शब्द बिना किसी सिद्धान्त का ध्यान रखे कभी स्त्रीलिंग में और कभी पुल्लिग में लिखे और बोले जाते हैं। बहुत से लोग यह भेद न जानने के कारण दोनों शब्दों के रूप एक में मिलाकर 'औषधि' भी लिखते हैं; और इन शब्दों के अर्थों में जो सूक्ष्म भेद है, उन पर भी ध्यान नहीं रखते। हमें इनके अर्थ भी निश्चित रखने चाहिएँ और लिंग भी।

इसी प्रकार की कुछ गड़बड़ी 'समाज' और 'व्यक्ति' आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी होती है। 'समाज' शब्द पुल्लिग होने पर भी कुछ लोग स्त्रीलिंग में लिखते हैं। 'व्यक्ति' शब्द एक अर्थ में पुल्लिग और एक अर्थ में स्त्रीलिंग अवश्य है; पर कुछ लोग बिना अर्थ का विचार किये सब जगह उसे स्त्रीलिंग ही लिखते हैं। मनुष्य या आदमी के अर्थ में हिन्दी में वह पुल्लिग ही लिखा और माना जाता है। और अर्थों में वह अवश्य ही स्त्रीलिंग माना और लिखा जाना चाहिए।

'ओर' (तरफ़) के लिंग के सम्बन्ध में भी लोग किसी निश्चित सिद्धान्त का ध्यान नहीं रखते; और शायद इसका कोई व्यापक सिद्धान्त स्थिर भी नहीं हुआ है। हिन्दी शब्दसागर में केवल इतना कहा गया है कि जब इसके पहले कोई संख्यावाचक शब्द आता है, तब इसका व्यवहार पुल्लिग की तरह होता है। पर यह यथेष्ट नहीं है। हम खाली 'दाहिनी ओर' और 'बाईं ओर' तो लिखते ही हैं; और ऐसा लिखना ठीक भी है। पर 'उसकी दाहिनी' (या बाईं) ओर' में खटक है। हम समझते हैं कि यदि विभक्ति और 'ओर' शब्द के बीच में

कोई और शब्द आ जाय तो पुल्लिंग ही रखना ठीक होगा। यह विषय विद्वानों के लिए विचारणीय है। साधारण लेखकों को इसका प्रयोग करते समय बहुत सचेत रहना चाहिए।

स्वयं हिन्दी के बहुत से शब्द ऐसे हैं जो पुल्लिग होने पर भी प्राय: भूल से स्त्रीलिंग लिखे जाते हैं। जैसे बरफ, चपत, जेब, साँस आदि। ऐसा नहीं होना चाहिए। कहीं कहीं, विशेषत: पूरब में, बाजारों और महल्लों आदि के नामों में भी इसी प्रकार की भूलें देखी जाती हैं। जैसे 'नई बाजार' और 'पुरानी गोदाम।' पश्चिमवाले इस विषय में अपेक्षाकृत कुछ अधिक सतर्क हैं। वे 'बाजार' की जगह, आवश्यकता पड़ने पर, 'बजरिया' (स्त्री॰ अल्पार्थक) बना लेते हैं। पर ये प्रयोग प्रान्तीय और स्थानीय हैं। इसके सिवा महल्लों और बाजारों के नाम सहज में बदले भी नहीं जा सकते। परन्तु ऐसे नाम देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'बाजार' या 'गोदाम' आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं। यह कहना कि 'बाजार खुल गई' और 'गोदाम बन्द हो गई' बिलकुल गलत है। हमने कई अच्छे पढ़े-लिखे और लेखक बननेवाले लोगों को यह कहते सुना है—'बाजार खुल गई।' ऐसे ही लोग यह भी पूछ बैठते हैं—'कै बाजी?' उनका यह भ्रम घड़ी के संयोग से होता है। मतलब यह होता है कि घड़ी ने कै बजाये।

समाचारपत्रों और पुस्तकों में भी प्राय: लिंग सम्बन्धी बहुत सी भूलें देखने में आती हैं। उदाहरणार्थ—'उसने तलाक ले ली।' 'जेल खाली हो गई।' 'नगर में पुलिस की गश्त।' 'स्मृतियाँ इस विशाल साहित्य की अंग हैं।' 'कभी तो डकार लेनी पड़ेगी।' 'पर्वत के निभृत कन्दरे में।' 'जाड़े की मौसिम में।' 'कृपाणें पकड़ी गईं।' 'लाइसेन्स जब्त हो गई।' 'थोथा बकवाद।' 'मोटी तौर पर।' 'तम्बाकू दे दी।' 'गाड़ी आने की इन्तजार थी।' 'कहीं इंजन हमारी गरदन पर खड़ी हो गई तो!' आदि। कुछ लोग 'अपने व्यक्तिगत जानकारी' के आधार पर ही बड़ी बड़ी बातें कह डालते हैं। और कुछ लोग यह देखकर दुखी होते हैं कि—'गाय-भैंस तौलकर बेचे जा रहे हैं।' 'इच्छा' और 'आवश्यकता' हैं तो स्त्रीलिंग ही; पर जब 'अनुसार' के साथ उनकी संधि होती है, तब व्याकरण के नियम से 'अनुसार' के लिंग

के अनुसार ही वह समस्त पद पुल्लिंग हो जाता है। पर कुछ लोग यह नियम न जानने के कारण 'अपनी इच्छानुसार' लिखते और 'अपनी आवश्यकतानुसार' बोलते हैं। इसी प्रकार वाक्य-रचना के ठीक सिद्धान्त न जानने के कारण लोग वाक्यों के अन्त की क्रियाओं में भी लिंग की गड़बड़ी करते हैं। जैसे—'शायद ही कोई ऐसी साड़ी हो, जिसे उन लोगों ने न देखी हो।' 'समाचार-पत्रों की हिन्दी' के अन्तर्गत भी ऐसे कुछ और उदाहरण दिये गये हैं। यहाँ हम केवल यह कहना चाहते हैं कि लिंग के सम्बन्ध में लेखकों को बहुत सतर्क रहना चाहिए; और जहाँ भ्रम हो, वहाँ किसी अच्छे कोश या प्रामाणिक व्यक्ति से सहायता लेनी चाहिए। लिंग सम्बन्धी भूलें बहुत बड़ी अयोग्यता की सूचक होती हैं।

लिंग की भाँति वचन में भी हिन्दी में अनेक प्रकार की भूलें की जाती हैं। एक समाचारपत्र में एक शीर्षक था—'५० हजार का टिकट गायब।' अवश्य ही ५० हजार रुपयों का कोई एक टिकट नहीं होता। ५० हजार रुपये मूल्य के टिकट गायब हुए थे; अतः होना चाहिए था—५० हजार के टिकट गायब। कोई लिखता है—'आठ, दस रसगुल्ला खाया।' और 'कपड़े उतार कर रख दिया।' कोई लिखता है—'कनखजूरे के सौ पैर होते हैं जिससे यह चलता है।' और कोई लिखता है—'इसकी पत्तियाँ बहुत घनी होती हैं जिनसे यह बहुत स्थान घेरता है।' अन्तिम दोनों उदाहरणों में से पहले उदाहरण में 'जिससे' की जगह 'जिनसे' और दूसरे उदाहरण में 'जिनसे' की जगह 'जिससे' होना चाहिए। पहले उदाहरण में पैर वह साधन हैं जिनसे कनखजूरा चलता है; और दूसरे उदाहरण में वृक्ष का घनापन वह कारण है, जिससे वह स्थान घेरता है। अब यह प्रश्न दूसरा है कि क्या केवल पत्तियों के घनेपन के कारण ही कोई वृक्ष अधिक स्थान घेरता है। हो सकता है कि कोई वृक्ष घनी पत्तियोंवाला होने पर भी अधिक स्थान न घेरता हो; और कोई वृक्ष घनी पत्तियोंवाला न होने पर भी अधिक स्थान घेरता हो। इस प्रकार की कुछ बातों का विचार 'अर्थ, भाव और ध्वनि' वाले प्रकरण में हुआ है; अतः यहाँ इसके विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि हम लोग वचन सरीखे साधारण तत्त्वों पर भी ध्यान नहीं देते।

वचन सम्बन्धी एक साधारण-सा नियम यह है कि जब एक ही तरह की कई चीजों या उनके समूहों का वर्णन किया जाता है, तब उन सभी चीजों के नाम बहुवचन रूप में रखे जाते हैं। परन्तु इस नियम की अवज्ञा भी हिन्दी में पग-पग पर देखी जाती है। कुछ उदाहरण लीजिये—

१. कमरे में कुरसी (कुरसियाँ) और सोफे करीने से रखे हुए थे।
२. बहुत से पत्र (पत्रों) और पत्रिकाओं का प्रकाशन बन्द हो गया।
३. जगह-जगह मनुष्य (मनुष्यों) और पशुओं की लाशें पड़ी सड़ रही थीं।
४. यह सारा ग्रन्थ दोहा (दोहों) और चौपाइयों में लिखा गया है।
५. इस देश में हिन्दू (हिन्दुओं) और मुसलमानों में प्राय: दंगे होते रहते हैं।
६. भिन्न-भिन्न देश (देशों) और जातियों में यह प्रथा समान रूप से पाई जाती है।
७. बारहसिंहा सींगवाला (सींगोंवाला) चौपाया है। आदि।

कुछ लोग वाक्य के आरम्भ और अन्त में वचन की संगति का ध्यान नहीं रखते। वे यदि आरम्भ में एक-वचन रखते हैं तो अन्त में बहुवचन; और यदि आरम्भ में बहुवचन रखते हैं तो अन्त में एक-वचन। जैसे—

१. मेरे आँसू (आँसुओं होना चाहिए) से, जो मेरे रोके नहीं रुकते, तुम्हारा आधा पत्र धुल गया है।
२. इसने नाना भाँति का रूप धारण किया है। ('के रूप धारण किये हैं' होना चाहिए।)
३. वह सिद्धान्त और तर्क-प्रकार आदि जिसमें धार्मिक विवेचन हो। ('वह' की जगह 'वे' और 'जिसमें' की जगह 'जिनमें' होना चाहिए)
४. चारों वेदों के चार उपवेदों का नाम है . . . ('के नाम हैं')

कुछ लोग ऐसे स्थानों पर बहुवचन का प्रयोग करते हैं, जिनमें एक-वचन का प्रयोग होना चाहिए ; और जहाँ बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए, वहाँ एकवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे—

१. ऐसी एकाध बातें और देखने में आती हैं। ('एकाध' के साथ एक-वचन ही आना चाहिए, बहुवचन नहीं।)

२. उन्होंने अपने जीवन में बहुत-सा उतार-चढ़ाव देखा था। ('बहुत से उतार-चढ़ाव' होना चाहिए।)

३. इस टीकाकार का नाम और काल ज्ञात नहीं है। (जब नाम और काल दोनों हैं, तब 'है' की जगह 'हैं' होना चाहिए।)

४. कम से कम दो शब्द अवश्य होना चाहिए। (होने चाहिएँ)

५. इस सूची में समस्त संस्कृत ग्रन्थों का नाम था। (के नाम थे)

६. सभी प्रकार की चीज वहाँ मौजूद थी। (सभी प्रकार की चीजें ...)

७. प्रत्येक छोटी-मोटी विशेषताओं को देखता है। (प्रत्येक के विचार से 'विशेषता' होना चाहिए।)

८. सभा में उपस्थित हरएक सदस्यों का यही मत था। ('हरएक' के साथ एकवचन 'सदस्य' ही होना चाहिए, बहुवचन नहीं।

९. आपके एक-एक शब्द तुले हुए होते थे। ('तुला हुआ होता था' होगा।)

दर्शन, प्राण आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत में सदा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं और पुराने हिन्दी लेखक भी संस्कृत के अनुकरण पर बहुवचन ही लिखते थे। परन्तु आज-कल लोग लिखते हैं—'उसका प्राण निकल गया।' 'मैं आपका दर्शन करने आया हूँ।' इसी प्रकार का आधुनिक शब्द 'हस्ताक्षर' है। वस्तुतः इसका प्रयोग भी बहुवचन में होना चाहिए, पर अधिकतर लोग एकवचन में ही इसका व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार का एक शब्द है—'सामग्री' जो वस्तुतः बहुत सी आवश्यक वस्तुओं के समूह का वाचक है और जिसका व्यवहार सदा एकवचन में ही होना चाहिए। पर लोग उसका भी बहुवचन 'सामग्रियाँ' बनाते हैं जो बहुत खटकता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनकी तृप्ति केवल 'अनेक' से नहीं होती और जो 'अनेकों' लिखते हैं। जैसे—'इस विषय पर अनेकों बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी गई हैं।' 'रंगमंच पर अनेकों कृष्ण चक्र चलाते हुए दिखाई देते हैं।' यह अशुद्ध है। हाँ, यदि अनेक का प्रयोग संज्ञा के समान हो तो अवश्य उसका रूप 'अनेकों' हो सकता है। जैसे—'उन दिनों अनेकों ने यह व्रत धारण कर रखा था।'

कुछ लोग 'सब' का बहुवचन 'सबों' या 'सभों' बना लेते हैं, जो

बहुत ही खटकता है। जैसे—'सबों ने यही राय दी।' यहाँ केवल 'सब' होना चाहिए। कुछ लोग 'किसी' का बहुवचन 'किन्हीं' बना लेते हैं। प्रायः इसका काम 'कुछ' से अच्छी तरह चल जाता है। जैसे—'किन्हीं कारणों से' या 'किन्हीं लोगों ने' की जगह 'कुछ कारणों से' और 'कुछ लोगों ने' कहीं अधिक सुन्दर है।

वचन के सम्बन्ध में कुछ बातें विवादास्पद और विचारणीय भी हैं, जिनका ठीक-ठीक निर्णय होने की आवश्यकता है। जैसे—'वह कई दिन तक प्रतीक्षा करता रहा।' कुछ लोग 'कई दिन' की जगह 'कई दिनों' लिखना पसन्द करते हैं, जो अधिक ठीक है। पर कुछ लोग कहते हैं कि नहीं 'कई दिन' ही कानों को भला लगता है और वही ठीक है। यही बात 'कुछ महीने बाद' और 'चार वर्षों में' के सम्बन्ध में है। कुछ लोग 'सौ रुपया देकर माल खरीदते हैं' और ऐसे अवसरों पर भी 'रुपया' का ही समर्थन करते हैं। कुछ अवसरों पर बड़े-बड़े विद्वान् भी इसका समर्थन करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु ऐसे लोगों के तर्क में कोई विशेष तत्त्व नहीं होता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें एकवचन ही अधिक श्रुति-मधुर होता है; और कुछ अवसरों पर एकवचन और बहुवचन दोनों समान रूप से श्रुतिमधुर होते हैं। परन्तु कोरा श्रुतिमाधुर्य सदा कसौटी का काम नहीं दे सकता। काम तो देते हैं—सिद्धान्त और नियम। उनकी अवहेलना करके केवल श्रुतिमाधुर्य का आश्रय लेना ठीक नहीं। यदि किसी विशेष अवसर पर किसी सिद्धान्त या नियम का अपवाद रखने की आवश्यकता हो ही, तो उसका भी निराकरण होना चाहिए। अन्यान्य विषयों के साथ-साथ यह भी विद्वानों के लिए विचारणीय है।



८

छाया-कलुषित भाषा

भाषा की प्रकृति या स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त किये बिना जो कुछ लिखा जाता है, वह प्रायः प्रकृति-विरुद्ध होने के कारण दूषित और भद्दा होता है। अँगरेजी भाषा की प्रकृति या स्वरूप का ठीक ज्ञान न रखनेवाले लोग जो अँगरेजी लिखते हैं, वह अँगरेजी भाषा के अच्छे जानकारों की दृष्टि में इसी कारण हास्यास्पद होती और 'बाबू इंग्लिश' कहलाती है। 'बाबू इंग्लिश' का मतलब है अँगरेजी दफ्तरों में काम करनेवाले लेखकों या 'बाबुओं' की लिखी हुई भद्दी अँगरेजी। अँगरेज लोग जो हिन्दी बोलते हैं, उसकी हँसी उड़ाते हुए हम लोग उसे 'साहबी हिन्दी' कहते हैं। यद्यपि अनेक हिन्दुओं ने उर्दू साहित्य की बहुत बड़ी बड़ी सेवाएँ की हैं और उसके निर्माण में हिन्दुओं का बहुत बड़ा अंश रहा है, फिर भी बहुतेरे मुसलमान उर्दू भाषा पर अपना ही जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं और हिन्दुओं की लिखी हुई उर्दू पर तरह तरह के आक्षेप करते हैं। परन्तु वास्तव में भाषा पर होनेवाला पूरा पूरा अधिकार किसी जाति या धर्म से सम्बन्ध नहीं रखता। सभी लोग परिश्रम कर के किसी भाषा पर इतना अच्छा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं कि उनके लेखों या भाषणों पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती। भेद यही है कि कोई भाषा जिन लोगों की मातृभाषा होती है, उसपर उनका अधिकार सहज में हो सकता है; और जिनकी वह मातृभाषा नहीं होती, उन्हें अधिकार प्राप्त करने के लिए विशेष परिश्रम करना पड़ता है। बहुत से भारतीय नेताओं, लेखकों और वक्ताओं आदि ने अँगरेजी भाषा पर इतना अच्छा अधिकार प्राप्त किया है, कि उसे देखकर बड़े बड़े अँगरेज साहित्यज्ञ भी दंग रह जाते हैं। इधर कुछ दिनों से दक्षिण भारत के अनेक हिन्दी प्रचारकों ने हिन्दी भाषा पर जो अधिकार प्राप्त किया है, वह बहुत से हिन्दी-भाषियों के लिए भी आश्चर्य और स्पर्द्धा का विषय है।

इन सब बातों से हमारा तात्पर्य यही है कि हमें हिन्दी लिखने से पहले उसकी वास्तविक प्रकृति या ठीक स्वरूप का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बिना इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये जो हिन्दी लिखी जायगी, वह कभी निर्दोष और ठिकाने की न होगी। यही नहीं, बहुत सम्भव है कि उस दशा में हमारे लेखों में बहुत सी ऐसी बातें भी आ जायँ जो हमारी भाषा की प्रकृति और स्वरूप के विरुद्ध हों; और यदि हम कुछ अन्यान्य भाषाएँ भी जानते होंगे, तो हमारे लेखों में उन भाषाओं के मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और भाव-व्यंजन-प्रणालियों आदि की भी बहुत कुछ छाया आ जायगी। जिस भाषा में इस प्रकार की परकीय भाषाओं की थोड़ी या बहुत छाया हो, वही हमारी सम्मति में 'छाया-कलुषित' है।

मान लीजिए, हमने थोड़ी बहुत अँगरेजी, बँगला, मराठी या उर्दू पढ़ी है; और काम चलाने भर को इनमें से किसी एक या अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु हम स्वयं अपनी भाषा की प्रकृति और स्वरूप से अपरिचित हैं। उस अवस्था में हमारे लेखों में उन भाषाओं की छाया आने लगेगी, जिनका हमने कुछ विशेष अभ्यास या अध्ययन किया होगा। और, जब हम उस भाषा से अपनी भाषा में कुछ अनुवाद करने बैठेंगे, तब वह छाया और भी बढ़ जायगी। इस प्रकार की छाया-कलुषित भाषा लिखते लिखते हम उसके इतने अभ्यस्त हो जायँगे कि स्वतंत्र लेख आदि लिखने के समय भी हम वह छाया किसी प्रकार बचा न सकेंगे। यही कारण है कि आज-कल का अधिकांश हिन्दी साहित्य इसी प्रकार की छाया-कलुषित भाषा में लिखा जा रहा है।

आज-कल विद्या और साहित्य की चर्चा पहले से बहुत बढ़ गई है। अब तो बहुत सी स्थानिक बोलियाँ भी 'भाषा' बनने का प्रयत्न करने लगी हैं। जब नई बोलियाँ भाषा का स्वरूप धारण करना चाहती हैं, तब उन्हें आस-पास की उन्नत भाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ, मिथिला या पंजाबी बोलियों में यदि गद्य साहित्य की रचना आरम्भ हो तो उन्हें अनिवार्य रूप से भारत की उन्नत भाषाओं से सहायता लेनी पड़ेगी। यह सहायता ग्रन्थों के अनुवाद के रूप में भी होगी और भाषा सम्बन्धी

प्रयोगों के रूप में भी। और अँगरेजी तो इन सब भाषाओं के ऊपर है ही। उसकी सहायता तो बड़ी बड़ी उन्नत भाषाएँ तक ले रही हैं।

यद्यपि हिन्दी का पद्य साहित्य बहुत पुराना है और गद्य के सैकड़ों बरस पुराने नमूने भी हमारे प्राचीन साहित्य में जहाँ तहाँ बिखरे हुए मिलते हैं, तथापि हमारे आधुनिक गद्य साहित्य को नवीन पथ पर आने के लिए बँगला और अँगरेजी की सहायता लेनी पड़ी थी। हमारा आधुनिक गद्य साहित्य तीस चालीस बरस पहले एक बड़ी सीमा तक बँगला पर आश्रित था। उसके बाद उसने अँगरेजी से भी सहायता लेना आरम्भ किया। अब बँगला का तो उतना अधिक आश्रय नहीं लिया जाता, पर अँगरेजी साहित्य का सहारा अभी तक लिया जा रहा है; और संभवतः बहुत दिनों तक लिया जायगा। इधर कुछ दिनों से हम मराठी, गुजराती और उर्दू साहित्यों का भी अध्ययन करने लगे हैं। इन सब बातों के फल-स्वरूप हमारी भाषा में प्रायः उक्त सभी भाषाओं की छाया दिखाई देती है।

परन्तु इस विषय का विशेष विस्तार करने के पहले हम एक बात बतला देना चाहते हैं। वह यह कि दूसरी भाषाओं की सभी छायाएँ दूषित और हमारी भाषा को कलुषित करनेवाली नहीं होतीं। परकीय भाषाओं की जो बातें हमारी भाषा की प्रकृति या स्वरूप के अनुरूप होती हैं, वे हमारी भाषा का सौन्दर्य और भी बढ़ाती हैं। ऐसी बातों से हमारा शब्द-भंडार भी बढ़ता है और भाव-व्यंजन की शक्ति भी। ऐसी छाया क्षम्य ही नहीं, श्लाघ्य भी है। हाँ, पराई भाषाओं की जो बातें हमारी भाषा की प्रकृति या स्वरूप के विरुद्ध होती हैं, वही हमारी भाषा का कलेवर कलुषित और दूषित करती हैं। ऐसी बातों से हमारी भाषा विवृद्ध या विस्तृत होने के बदले संकुचित, और जोरदार होने के बदले कमजोर होती है। यदि यह तत्त्व ध्यान में रखा जायगा, तो हम सहज में अपनी भाषा की, विशुद्ध भाषा की दृष्टि से, बहुत उन्नति कर सकेंगे।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। आधुनिक हिन्दी गद्य की प्रारम्भिक अवस्था में लोग बँगला से अनुवाद करने की ओर झुके थे। पर उनकी भाषा विकृत न होने पाई। कारण, एक तो बँगला की प्रकृति हिन्दी की प्रकृति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है; दूसरे, हमारे आरम्भिक अनुवादक, कम से कम आज-

कल के अनुवादकों की अपेक्षा अधिक सतर्क रहते थे; अथवा यों कहना चाहिए कि अपनी भाषा की प्रकृति अधिक समझते थे और अन्याय भाषाओं के साथ विशेष घनिष्ट सम्पर्क न होने के कारण उनके प्रभावों से बचे हुए थे। आज-कल बँगला से जो अनुवाद होते हैं, उनकी अपेक्षा उस समय के अनुवाद, भाषा की दृष्टि से, अधिक निर्दोष होते थे। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, हिन्दी पर बँगला का बहुत ही थोड़ा प्रभाव पड़ने पाया था। वह प्रभाव जितना पड़ा था, उससे अधिक इसलिए हो भी नहीं सकता था कि बँगला की प्रकृति हिन्दी की प्रकृति से बहुत कुछ मिलती जुलती थी। हां, बँगला से हिन्दीवालों ने बहुत से शब्द अवश्य ग्रहण किये थे, जिनमें से कुछ तो उपयुक्त थे और कुछ अनुपयुक्त। उदाहरण के लिए अकाट्य और सराहनीय आदि शब्द हैं। अकाट्य का प्रचार तो बहुत कम हो चला है, पर सराहनीय अब भी कहीं कहीं चलता है। अभिभावक और अभ्यर्थना आदि कुछ शब्द आज-कल हिन्दी में जिन अर्थों में प्रचलित हैं, वे उन शब्दों के मूल संस्कृत अर्थों से बिलकुल भिन्न हैं और बँगला के द्वारा ही हमारी भाषा में आये हैं। पर 'प्रजा की अभूत-पूर्व वृद्धि हो उठी', 'आन्दोलित हो उठी' 'स्पर्धा पुंजीभूत होकर अभ्रभेदी हो पड़ी' और 'खूब सम्भव है कि' सरीखे प्रयोगों की आज-कल जो भर-मार देखने में आती है, वह हिन्दी की प्रकृति के नितान्त विरुद्ध और सर्वथा त्याज्य है।

'मैं इसे बरदाश्त नहीं कर पा रहा हूँ।' 'जाऊँगी नहीं, ऐसी प्रतिज्ञा मैंने की हो, ऐसा तो मुझे याद नहीं आता।' सरीखे वाक्य भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण बहुत खटकते हैं और ऐसे प्रयोगों से हमें बचना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उक्त दोनों वाक्य मौलिक लेखकों की कलम से निकले हुए हैं और बँगला के अनुवाद नहीं हैं। इसी प्रकार के वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि हम पर अनजान में ही दूसरी भाषाओं का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हमारी कलम से ऐसे छाया-कलुषित प्रयोग निकल जाते हैं। फिर जब हम बँगला से अनुवाद करने बैठते हैं, तब हमारी भाषा बँगला की छाया से और भी अधिक कलुषित हो जाती है। इस प्रकार के कुछ वाक्य 'अनुवाद की भूलें' शीर्षक प्रकरण में दिये गये हैं।

बँगला के कुछ ही बाद अँगरेजी की बारी आई। राजभाषा के नाते उसका अध्ययन हमारे लिए आवश्यक हो गया था; और उसका साहित्य भी परम उन्नत था; इसलिए उसका सहारा लेना हमारे लिए अनिवार्य-सा था। अँगरेजी की जबरदस्त पढ़ाई का कुफल यह हुआ कि हम बहुत सी बातों में पूरी तरह से अँगरेजी रंग में रँग गये। हमारे साहित्य पर भी अँगरेजी की बहुत गहरी रंगत चढ़ी। यहाँ तक कि अब तो बहुत से हिन्दी लेखक अँगरेजी से केवल अनुवाद ही नहीं करते, बल्कि मौलिक लेख आदि लिखने के समय भी पहले अँगरेजी में ही सोचते हैं और तब जैसे-तैसे हिन्दी में लिखते हैं। अँगरेजी में होनेवाली इस 'सोचाई' की हमारी भाषा पर बहुत ही गहरी छाप दिखाई देती है। इस छाप के सूचक भी सप्रयोग त्याज्य हैं। यहाँ हम इस प्रकार के कुछ वाक्य देते हैं जो हमारी भाषा की पद्धति के नितान्त विरुद्ध और अँगरेजी की छाया से बुरी तरह कलुषित हैं।

१. उन्होंने शत्रुओं से हथियारों को रख देने की **माँग** की।
२. क्या इस बात का **अनुभव** भी कहीं हिन्दी साहित्य **ले रहा है**?
३. **युग के बीच में** आज वह नवीन धारा में अपनी कृतियाँ **ले कर** उन्नत हैं।
४. उसने जानकार क्षेत्रों को **रहस्य में डाल दिया है**।
५. वह अपनी **लड़की के लिए** कह उठे। (अँगरेजी और बँगला दोनों की छाया)
६. हम **प्रभाव** के व्यक्तियों से बराबरी के दावे से नहीं मिलते।
७. वह समझता, फिर आदमी ही आदमी में क्या सौन्दर्य है।
८. वह नहीं चाहता था कि अपने शब्द **व्यय** करे।
९. उतनी ही निन्दा उस स्त्री की उसकी सास द्वारा की गई सुनी है।
१०. मुझे **भय है** कि तुम इसे भी वैसा ही समझते हो। आदि।

इस प्रकार के और भी बहुत से भद्दे प्रयोग हैं जो जबरदस्ती हमारी भाषा पर लादे जा रहे हैं। इनमें से बहुत चलता हुआ एक 'गलत' शब्द है जिसके अनेक ऐसे प्रयोग होते हैं जो सरासर गलत हैं। जैसे 'उस पर गलत बोझ डाला गया है।' 'अगर मैं गलत नहीं हूँ।' 'सब लोग तुमको

गलत समझते हैं, पर मैं तुम्हें गलत नहीं समझ सकता।' आदि। अन्तिम वाक्य में लेखक का अभिप्राय यह है कि और लोगों को तुम्हारा उद्देश्य समझने में भ्रम हो सकता है, परन्तु मुझे नहीं हो सकता। 'तुम्हारा सब काम गलत होता है' भी ठीक नहीं है। होना चाहिए—तुम्हारे सब कामों में गलतियाँ होती हैं।

उपन्यासों आदि में पात्रों की बात-चीत में भी, जिसे संलाप या कथोपकथन कहते हैं, प्रायः अँगरेजी प्रभाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। जैसे—

'तुम्हारी यही लियाकत है।' मालिक ने डाँटा। 'जाओ, दूर हो।'

'छुट्टी पर जा रहा हूँ'—विनोद ने बिस्तर इक्के पर रखते हुए कहा। 'अब मुझे फुरसत ही फुरसत है।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रकार की वाक्य-रचना से भाषा में कुछ जोर आ जाता है। हो सकता है कि कुछ स्थानों पर इससे जोर आता हो; अथवा बातों का सिलसिला मिलाये रखने के लिये इसका कुछ उपयोग होता हो; पर कहानियों या उपन्यासों आदि में शुरू से आखीर तक सब जगह इसी प्रकार की रचना नितान्त परकीय है। ऐसी वाक्य-रचना भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है—'हम वहाँ नहीं गये थे, चूँकि उन्होंने हमें नहीं बुलाया था'। यह वाक्य सीधी तरह से इस प्रकार लिखा जा सकता है—'उन्होंने हमें नहीं बुलाया था, इसलिए हम वहाँ नहीं गये थे।' इसी प्रकार का दूसरा वाक्य है—'इसमें महायानीय लक्षण हैं, यद्यपि यह हीन यानवालों के लिए लिखा गया था।'

प्रायः लोग वाक्य में कोई कठिन शब्द या पद लाने के बाद कोष्ठक में उसकी व्याख्या कर देते हैं अथवा उसके लिए कोई सरल शब्द या पद रख देते हैं। पहले तो यह कार्य इसी लिए अनुचित है कि हम एक ही शब्द या पद दो बार लिखते हैं, एक बार कठिन रूप में और दूसरी बार सरल रूप में। क्यों न पहले ही सरल रूप में लिखा जाय? पर हँसी उस समय आती है, जब हम पहले तो सरल शब्द देते हैं और तब उसे स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में अँगरेजी शब्द देते हैं। एक समाचारपत्र में पढ़ा था—'कम्पनी के सदर दफ्तर (हेड आफिस) से यह आज्ञा आई है।' मानों जन-साधारण के लिए सदर दफ्तर समझना कठिन हो और हेड आफिस समझना सहज। यदि कठिन है तो दोनों समान रूप से कठिन हैं।

कुछ लोगों को अँगरेजी वाक्यों के रूप ज्यों के त्यों रख देने का भी खब्त होता है। और यह खब्त केवल अनुवाद के समय ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्रतापूर्वक लिखते समय भी प्रकट होता है। वे पहले हर एक बात अँगरेजी में सोचते हैं और तब हिन्दी में लिखते हैं। इस प्रकार का एक वाक्य है—आप मेरे नाम के खिलाफ यह रकम न लिखें।

यह 'नाम के खिलाफ' अँगरेजी के अगेन्स्ट माई नेम (against my name) का अविकल अनुवाद है। हम लोग किसी के खिलाफ कोई कार्रवाई तो जरूर करते हैं और किसी के खिलाफ कोई मुकदमा भी दायर करते हैं; परन्तु रकम लिखते हैं सिर्फ 'किसी के नाम', 'किसी के नाम के खिलाफ' नहीं।

कभी-कभी हम अँगरेज़ी प्रभाव के कारण अपने वाक्यों का बिलकुल अनावश्यक विस्तार कर जाते हैं और उन्हें जटिल या अ-स्पष्ट बना देते हैं। जैसे—'जिज्ञासा पंख उठाती है।' 'वह अपने को पिता के घर से तोड़कर भाग आया था।' 'मेरी पत्नी तुम्हारे पत्रों की मित्र हो गई है।' 'वास्तव में उनकी उपस्थिति का अनुभव जनता की आम तौर से एक दम गरीब लोगों की प्रतिक्रियाओं ने ही कराया है।' आदि। 'कुम्भ के अवसर पर उन्होंने अपने आपको प्रयाग में पाया।' से तो यही जान पड़ाता है कि शायद वे मोटर आदि के धक्के से गिरकर बेहोश हो गये थे; और जब उन्हें होश आया, तब उन्होंने अपने आपको प्रयाग में पड़े हुए पाया। ये सब वाक्य बहुत सहज में, बहुत थोड़े शब्दों में और बहुत ही स्पष्ट रूप में लिखे जा सकते थे। पर अँगरेजी का भूत सिर से उतरे तब तो!

अँगरेजी के प्रभाव का यहीं अन्त नहीं है। पूर्वी भारत का असम प्रदेश अँगरेजी की कृपा से सारे देश में 'आसाम' कहलाने लगा है। लोग इड़ा सरकार को अइड़ा सरकार, यूथिका राय को जुथिका राय, कपिला देवी को कापिला देवी, मि० ताम्बे को मि० टेम्बे, गिरेन्द्र को गिरेन्द्रा, स्वस्तिक को स्वस्तिका और पटेल को पाटिल लिख जाते हैं। बंगाली लोग 'रमला' का उच्चारण कुछ 'रमोला' से मिलता-जुलता, 'कणिका' का 'कनीका से' मिलता-जुलता और 'मणिका' का 'मोणिका' से मिलता-जुलता

करते हैं। अंगरेजी में ये नाम लिखे हुए देखकर हम लिख जाते हैं— रमोला देवी, कनोका राय और भोनिका देसाई आदि। 'तरुण बैनर्जी' को हम 'तारुन बैनर्जी' बना देते हैं। यह तो पराये और ऐसे नामों की बात है, जिनसे हम परिचित न होने का उज्र भी पेश कर सकते हैं। पर जब हम स्वयं अपने ही नाम बिगाड़ने लगते हैं, तब क्या कहा जा सकता है? किसी जमाने में उर्दू-फारसी के प्रभाव के कारण हम 'संयोगिता' को 'संयुक्ता' और 'संजुक्ता' लिखते थे। बच्चों की एक पाठ्य पुस्तक में भी हमें 'संयुक्ता' मिला है। पहले हम अपने नाम 'हौसिलापरशाद' और 'कहकहा परशाद' रखते और 'लालता परशाद' लिखते थे। उससे पीछा छूटने पर आज-कल अँगरेजी के प्रभाव से हम अपनी तख्तियों पर 'शुक्ला कम्पनी', 'मिश्रा ब्रदर्स' और 'गुप्ता स्टोर' लिखने लगे हैं। और सीधे-सादे 'सिंह' शब्द के स्थान पर 'सिनहा' तो मानों देशव्यापी प्रचलन पा गया है। यह है अँगरेजी की कृपा से होनेवाला हमारा सांस्कृतिक पतन।

अब जरा मराठी प्रभाव की ओर ध्यान दीजिए। हिन्दी में 'लागू' और 'चालू' तो उसी समय से चलने लग गये थे, जब सन् १९०७ में नागपुर से स्व० पं० माधवराव जी सप्रे ने 'हिन्दी केसरी' निकाला था। ये शब्द हमारे यहाँ इसलिए बहुत सहज में खप गये थे कि हमारे यहाँ इसी तरह के 'काटू' और 'घोंटू' आदि शब्द प्रचलित थे। अर्थात् ये शब्द हमारी प्रकृति के अनुरूप थे। परन्तु जब मराठी से हिन्दी में अनुवाद होने लगे और कुछ महाराष्ट्र सज्जन कृपाकर हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुए, तब हमारी भाषा पर मराठी की छाया बढ़ने लगी। मध्य प्रदेश की भाषा पर तो थोड़ा-बहुत मराठी प्रभाव पहले से था ही; अब वह प्रभाव हमारी समस्त भाषा पर पड़ता हुआ दिखाई देता है। अब हिन्दी में 'मर्दाई' (मर्दानगी), 'भागीदारी' और 'तनखा' (तनखाह) सरीखे शब्द और रूप भी धीरे धीरे आने लगे हैं। महाराष्ट्र लोग जब बाजार में जाते हैं, तब दूकानदार से कहते हैं—'कोई अच्छी धोती बताओ।' (दिखलाने के अर्थ में) मध्य प्रदेश में भी 'अँगूठा बताना' सरीखे बहुत से प्रयोग प्रचलित हैं। परन्तु अब यह 'बताना' धीरे धीरे हमारी साहित्यिक भाषा में भी आने लग गया है। जैसे—'उन्होंने कई बड़े बड़े मुकदमे जीत कर बताये थे।' मराठी

में सिक्के को 'नाणा' कहते हैं। एक जगह पढ़ा था—'जब सूद की दर उतर जाती है, तब कहा जाता है कि नाणा सस्ता हो गया।'

मराठी की छाया से कलुषित कुछ उदाहरण लीजिए :—

१. इस बार हम लोग सब झंझट उन्हीं के सिर ठेल कर हट न जायँगे, और अपना बकाया माँगते बैठेंगे।
२. उसका वह अंश निकाल दिया देखने में आया। (मराठी के प्रभाव से युक्त मध्य प्रदेश की वाक्य-रचना)
३. वे दूसरों को उपदेश देते हैं, पर खुद ने उस उपदेश के विरुद्ध आचरण करते हैं। (वही)
४. यह जाहिरात आपकी आशा पूरी करेगा। (मराठी में विज्ञापन को जाहिरात कहते हैं।)
५. मित्र सेनाओं को भागते आफत पड़ी थी।
६. वे इन्दौर राज्य के वजनदार विद्वान हैं।
७. स्विटजरलैंड में रहे एक बैरिस्टर बन्धु ने जेल में मुझे सलाद खिलाया था।
८. यह कार्य उन्हीं के हाथों सम्पन्न होगा, हमें ऐसी आशा है।
९. वे बारहवीं शताब्दी में हुए दिखते हैं।
१०. उस भाषण में कोई भी बात नहीं रहनेवाली नहीं है।
११. लड़की को इलाहाबाद जिले के किसी गाँव में भेज दिया गया बताया जाता है।
१२. तरुण स्त्री-पुरुष ने परस्पर की सम्मति से विवाह करना चाहिए।
१३. कहीं तो भी पुस्तक मिल जायगी।
१४. दस रुपये खर्च जाकर बाकी उन्हें दे दिये गये।
१५. उन्होंने काफी परिश्रम किया जान पड़ता है।
१६. श्री अणे ने स्थापित यह सिद्धान्त सबको मान्य है।
१७. हमें तो इसका कुछ भी अर्थ नहीं समझता।
१८. इस पत्र पर से (मराठी वरून का अनुवाद) हम यह समझ सकते हैं कि . . .। आदि आदि।

यद्यपि तात्विक दृष्टि से उर्दू और हिन्दी में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता और यही कहा जाता है कि उर्दू भी हिन्दी का एक रूप अथवा विभाषा ही है. फिर भी कुछ बातों में उर्दू और हिन्दी में कई छोटे-बड़े अन्तर हैं ही। उर्दू वाले जिस प्रकार अरबी और फारसी से अपने शब्द लेते हैं, उसी प्रकार वे अपने वाक्यों के स्वरूप भी यथासाध्य अरबी और फारसी के अनुरूप ही रखना चाहते हैं। अरबी और फारसी की पारस्परिक प्रकृतियों में बहुत बड़ा अन्तर है। अरबी सेमेटिक परिवार की भाषा है और फारसी हमारे ही आर्य या संस्कृत परिवार की, अतः दोनों की प्रकृतियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। संस्कृत से फारसी का जितनी अधिक सामीप्य और घनिष्ट सम्बन्ध है, अरबी से उसका उतना ही अधिक विरोध और दुजायगी है। दोनों के इतिहासों में यह विरोध आरम्भ से आज तक बराबर देखने में आता है। परन्तु उर्दू वाले इन बातों का कुछ भी विचार किये बिना अरबी और फारसी दोनों से ही अपने शब्द भी लेते हैं और कुछ हद तक भाव व्यक्त करने की प्रणालियाँ या वाक्य-रचनाएँ भी। फिर उर्दू का मूल है तो संस्कृत जन्य पुरानी हिन्दी ही, इसलिए उर्दू में हिन्दी, अरबी और फारसी तीन भाषाओं की अनेक बातों का विलक्षण सम्मिश्रण दिखाई देता है। जिन्हें उर्दू का विशेष अभ्यास होता है अथवा जो उर्दू से अनुवाद करने बैठते हैं, उन पर उर्दू की इन विलक्षणताओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, और उनकी भाषा उर्दू की छाया से कलुषित रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की भाषा भी अग्राह्य ही होनी चाहिए।

स्व० आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में बतलाया है कि चार बातों में हिन्दी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

'उर्दू वाले एक तो अरबी-फारसी के शब्द तत्सम रूप में लेते हैं। दूसरे उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिक पड़ रहा है। तीसरे, वे सम्बन्ध-कारक की विभक्ति का लोप करके उसके स्थान पर 'ए' की इजाफत करके समस्त पद बनाते हैं। और चौथे, वे कभी-कभी क्रिया को ही कर्ता से पहले रखकर अथवा इसी प्रकार के कुछ और परिवर्तन करके अपना वाक्य-

विन्यास ही निराला कर लेते हैं।' और हम देखते हैं कि बहुत से हिन्दी लेखक भी इन चारों तत्त्वों से प्रभावित रहते हैं।

किसी दूसरी भाषा से शब्द लेने में कोई बुराई नहीं। परन्तु वह शब्द-ग्रहण अनावश्यक नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने घर के शब्दों का परित्याग करके और आँखें बन्द करके पराये शब्द लेते चलें, तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात न होगी, प्रत्युत् एक प्रकार की आत्महत्या होगी। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि उर्दू का प्रभाव हम पर इतना अधिक पड़ा है कि हम 'सजा' और 'शुरू' को तो सहज समझते हैं और 'दंड' और 'आरम्भ' को कठिन। 'मुश्किल' तो हमारे लिए सहज होता है, पर 'कठिन' कठिन ही रह जाता है। हमें 'पृथ्वी' की जगह 'जमीन', 'आकाश' की जगह 'आसमान' और 'अभ्यास' की जगह 'आदत' कहने की आदत पड़ गई है। यह हमारे दुर्भाग्य का सूचक होने पर भी एक दृष्टि से क्षम्य हो सकता है। परन्तु जब हम अपने यहाँ के सीधे-सादे शब्द 'चलान' और 'बरात' को 'चालान' और 'बारात' लिखने लगते हैं, तब मानों हम अपनी भाषा की प्रकृति से नितान्त अनभिज्ञ होने की घोषणा करने लगते हैं। कुछ लोग सिर, भूख, झूठ, ठंढक और घोखा आदि की जगह उर्दूवालों की देखा-देखी सर, भूक, झूट, ठंडक और घोका आदि और 'हजारों' की जगह 'हजारहा' भी लिखते हुए देखे जाते हैं।

यही हाल वाक्य-विन्यास का भी है। हम अपनी अरजियाँ मुकदमे के फैसले के लिए पेश करने के बदले 'वास्ते इनफिसाल मुकदमा' पेश करते हैं। और दूसरों के रुपये 'बाद काटे जाने कुल खरचों के' अदा करते हैं। 'शहर बनारस' के रहनेवाले 'बाद खाना खाने के', 'किनारे दरियाए गंगा के' सैर करते हैं, और 'मास नवम्बर १६४३' में 'सम्पादक नागरी प्रचारिणी पत्रिका' को पत्र लिखते हैं। परिचय देते समय 'पुत्री श्रीयुक्त द्वारकादास', 'पत्नी श्रीयुक्त नारायणदास' 'पुस्तकालय हिन्दू विश्वविद्यालय' आदि पदों का प्रयोग करते हैं। हम 'सुनहरा खंजर' की जगह 'सुनहरी खंजर' लिखते हैं और 'लेना चाहते हैं' की जगह 'लिया चाहते हैं' कहते हैं। 'हम आशा करते हैं कि आप अच्छे होंगे' की जगह 'चाहिए कि आप अच्छे हैं।' भी कहीं-कहीं देखा जाता है। उर्दूवालों की नकल पर हम भी लिख चलते हैं—'कोयलें बोल रही हैं,

फूल खिल रहे हैं।' ('फूल खिले हुए हैं' होना चाहिए) 'सिर का पल्ला पीछे खिसक रहा।' में 'रहा' वस्तुतः 'गया' की जगह आया है। 'वह खद्दर का लम्बा कुरता पहन रहा था।' में 'पहन रहा था' वास्तव में 'पहने हुए था' की जगह आया है और बहुत ही भ्रामक है। 'पूर्व इसके कि हमारी बात पर कोई हँसे' हम स्वयं हँस पड़ते हैं। और 'वास्ते जमा करने ऐसी मिसालों के' हमें 'बगैर किसी की मदद के' 'मेहनत करना पड़ती' है।

यह हिन्दी का सौभाग्य है कि वह अनेक ऐसे प्रान्तों में भी लिखी, पढ़ी और बोली जाती है जिनमें वह साधारण बोल-चाल की भाषा नहीं है। जैसे पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र और मदरास आदि। यदि ऐसे प्रान्तों के वे निवासी हिन्दी लिखने में भूल करें जो हिन्दी के क्षेत्र में नवागन्तुक होते हैं और लेखक बनने का दावा नहीं करते, तो वे हर तरह से क्षम्य ही हैं। बल्कि क्षम्य क्यों, उन्हें तो अभिनन्दनीय समझना चाहिए। अभी कुछ दिन हुए, हमारे हाथ एक विज्ञापन पड़ा था, जिसका आरम्भ इस प्रकार था—'इस बीसवीं शताब्दि में शास्त्रीय संशोधन रूपी फल (प्रगति) सीमा पहुँच गई। घर बैठे आपन दुनियाँ के सुन्दरों का मधुर आलाप व ताजी खबरें सुनते। विद्युल्लते की रंग बेरंगी शोभा तथा बहुरंगी पराक्रम देखते। महासागर में प्रासाद रूप नौका, भूमी पर अजस्र यान्त्रिक तोफा (इसे भूल से तोहफा न समझ लीजिए। यह 'तोप' का मराठी बहु० रूप है।) वेगवान हौद (टैंक के लिए कितना सुन्दर शब्द गढ़ा है!) आकाश में उड़ते किले वगैरों से युद्ध याने त्याज्य दन्त-कथा सत्य रूप में गोचर है।'

यह विज्ञापन पढ़कर हमें इस दृष्टि से बहुत प्रसन्नता हुई थी कि एक मराठी-भाषी सज्जन ने हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा मानकर उसमें कुछ लिखने का प्रयत्न किया है। ऐसे लोगों की भूलों पर ध्यान न देकर उनका आदर और अभिनन्दन करना चाहिए। परन्तु जो लोग हिन्दी के लेखक बनने का दावा करते हैं, उनसे यह आशा भी अवश्य की जाती है कि वे अशुद्ध, भद्दी और भ्रष्ट भाषा लिखकर हिन्दी का कलेवर क्षत-विक्षत न करेंगे। हिन्दी लिखने का अधिकार सबको है, परन्तु उसका स्वरूप विकृत और कलेवर कलुषित करने का अधिकार किसी को नहीं है।

१

समाचारपत्रों की हिन्दी

आधुनिक युग में समाज और राष्ट्र के जीवन में समाचार-पत्रों का बहुत ही विशिष्ट और ऊँचा स्थान है। समाचार-पत्र मानों अपने देश की सभ्यता, संस्कृति और शक्ति के मानदंड बन रहे हैं। जिस देश में जितने अच्छे और जितने अधिक समाचार-पत्र होते हैं, वह देश उतना ही उन्नत और प्रभावशाली समझा जाता है। बहुत से क्षेत्रों में जो काम समाचार-पत्र कर जाते हैं, वह बड़ी-बड़ी सेनाएँ और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी नहीं कर पाते। समाचार-पत्र एक ओर तो जनता का मत सरकार और संसार पर प्रकट करते हैं; और दूसरी ओर देश में सुदृढ़ और संपुष्ट लोक-मत तैयार करते हैं। देश को सब प्रकार से जाग्रत और सजीव रखने में जितनी अधिक सहायता समाचार-पत्रों से मिलती है, उतनी शायद और किसी चीज से नहीं। इसी लिए आज-कल समाचार-पत्रों का इतना अधिक महत्त्व है।

हमारे देश में भी बहुत-से समाचार-पत्र हैं; और हमारे राष्ट्र की भाषा हिन्दी में भी उनकी दिन पर दिन वृद्धि और उन्नति होती जा रही है। जहाँ आज से तीस-चालीस वर्ष पहले नाम मात्र को एकाध दैनिक पत्र निकलता था, वहाँ अब दैनिक पत्रों की संख्या दरजनों तक पहुँच गई है। सामयिक और मासिक पत्रों की संख्या में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई है। यह वृद्धि और उन्नति देश के लिए भी शुभ है और हिन्दी के लिए भी। यह स्थायी साहित्य के निर्माण में भी बहुत अधिक सहायक हुई है और जन-साधारण को जाग्रत और उनकी रुचि परिष्कृत करने में भी। इससे हिन्दी के प्रेमियों और पाठकों की संख्या में जो वृद्धि होती है, वह अलग। इन दृष्टियों से पत्र-पत्रिकाओं का देश बहुत ऋणी और कृतज्ञ है।

परन्तु जहाँ महत्त्व की वृद्धि होती है, वहाँ उत्तरदायित्व भी अवश्य बढ़ जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे पत्रकारों का उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। अनेक दृष्टियों से बहुत-से पत्रकार अपना उत्तरदायित्व बहुत कुछ समझने लगे हैं और अपने ऊपर पड़े हुए इस भार का वहन भी बहुत अच्छी तरह करने लगे हैं। परन्तु जब हम अपने यहाँ के समाचार-पत्रों की भाषा के क्षेत्र में निगाह दौड़ाते हैं. तब वहाँ हमें बहुत बड़ी अराजकता फैली हुई दिखाई देती है। अधिकांश समाचार-पत्रों की भाषा देखते हुए हमें विवश होकर यही कहना पड़ता है कि भाषा के गौरव पर दृष्टि रखनेवाले पत्रकार बहुत ही थोड़े हैं। शायद नहीं के बराबर हैं!

समाचार-पत्र देश के सभी भागों से निकलते हैं और उनके सम्पादकीय विभाग में अधिकतर नये-नये लोग ही काम करते हैं। फिर समाचार-पत्रों और विशेषतः दैनिक समाचार-पत्रों में काम करनेवालों के लिए एक और कठिनता होती है। उन्हें अधिकतर अनुवाद करना पड़ता है; और वह भी बहुत ही जल्दी में। आज का काम किसी प्रकार कल पर छोड़ा ही नहीं जा सकता। कल तो दूर रहा, आज भी उन्हें अधिक सोचने-समझने का अवकाश नहीं मिलता। उनके सामने जो कुछ आता है, वह सब उन्हें निर्जीव चक्की की तरह पीसकर रख देना पड़ता है। उन्हें यह देखने का भी मौका नहीं मिलता कि जो कुछ हमने पीसा है, वह महीन है या दरदरा, साफ है या कँकरीला। देश की दरिद्रता और पत्रों के प्रकाशन के मार्ग में आनेवाली दूसरी कठिनाइयाँ उन्हें आर्थिक दृष्टि से कभी निश्चिन्त ही नहीं होने देतीं। फल यह होता है कि दस-दस और बीस-बीस वर्षों तक सम्पादकीय विभाग में काम कर चुकने के बाद भी बहुत-से लोग अन्त में ज्यों के त्यों और कोरे ही रह जाते हैं। फिर उनकी अधीनता में रहकर काम सीखनेवाले नये लेखकों का तो कहना ही क्या है!

ऐसे लोग अपने कार्यों में कितने सतर्क रहते हैं, इसका एक उदाहरण लीजिए। एक प्रतिष्ठित, बड़े और पुराने दैनिक समाचार-पत्र के साप्ताहिक संस्करण के सम्पादक-मंडल के एक उत्साही सज्जन के दिमाग में यह बात आई कि हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों के चित्र और हस्तलेख प्रकाशित किये जाने

चाहिएँ। आप एक ऐसे सज्जन के पास जा पहुँचे, जो कम-से-कम एक विशिष्ट मंडली में जीवित हिन्दी लेखकों में सबसे बड़े और सबसे अधिक मान्य समझे जाते हैं। उन सज्जन ने भी पत्रकार महोदय को अनुगृहीत करने के लिए तुरन्त अपना चित्र और अपने हाथ से लिखकर एक बहुत पुराने कवि का एक प्रसिद्ध सोरठा दे दिया। परन्तु खूबी यह थी कि उसका पहला चरण लिखा गया था सोरठे के रूप में; और दूसरा चरण लिखा गया था दोहे के रूप में! न तो सर्वश्रेष्ठ लेखक महोदय ने यह सोचा कि मैं क्या लिखकर दे रहा हूँ; और न सुविज्ञ पत्रकार महोदय ने यह समझने की कोशिश की कि यह क्या लिखा गया है। ज्यों की त्यों उसकी प्रतिकृति छप गई! और मजा यह कि कोई कुछ बोला भी नहीं!

समाचार-पत्रों के मालिक और व्यवस्थापक भी थोड़े खर्च में काम निकालने के लिए विवश होते हैं। उनके सामने स्कूल या कालेज से निकला हुआ जो नवयुवक आ खड़ा होता है, प्रायः उसी से वे काम निकालना चाहते हैं और निकालते भी हैं। उनका साहित्यिक अध्ययन भले ही थोड़ा-बहुत हुआ हो, पर भाषा सम्बन्धी अध्ययन ईश्वर का नाम ही होता है। इसी के साथ दुर्भाग्यवश एक दूसरी बहुत बड़ी बात भी आ मिलती है। सब लोग समझते हैं कि हिन्दी तो हमारी राष्ट्रभाषा और मातृभाषा है ही। अतः हिन्दी लिखने का भी हमें जन्मसिद्ध अधिकार है। ऐसे बहुत से लोग केवल समझते ही नहीं, बल्कि अनेक अवसरों पर कह भी बैठते हैं—'हिन्दी क्या है! जो कुछ हम लिखते और बोलते हैं, वही हिन्दी है। आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उसे ही हिन्दी मानेंगी।' भला इसके आगे किसी के कहने के लिए क्या जगह हो सकती है!

यही कारण हैं जिनसे आज-कल समाचार-पत्रों के भाषा-क्षेत्र में पूरी अराजता फैली हुई दिखाई देती है। भाषा की जितनी दुर्दशा आज-कल के समाचार-पत्रों में देखने में आती है, उतनी साहित्य के और किसी अंग में नहीं। समाचार-पत्रों के सम्पादकीय विभागों से निकले हुए इस प्रकार के लोग जब ग्रन्थकार बनने लगते हैं, तब उस क्षेत्र में भी वही दुर्दशा होती है। ग्रन्थ आदि तो अपेक्षाकृत कम ही लोग पढ़ते हैं, पर समाचार-पत्र पढ़नेवाले

लोग बहुत अधिक होते हैं। जन-साधारण में बहुत से ऐसे लोग होते हैं जो किताबें तो सारी जिन्दगी में दो-ही चार पढ़ते होंगे, परन्तु समाचारपत्र प्रायः नित्य पढ़ते हैं। ऐसे लोगों पर अशुद्ध, भद्दी और बे-मुहावरे भाषा का जो बुरा प्रभाव पड़ता है, वह आगे चलकर हमारी भाषा विकृत करने में और भी अधिक सहायक होता है। हम आशा करते हैं कि विशुद्ध हित के विचार से कही हुई हमारी ये बातें विशेष रूप से ध्यान में रखी जायँगी; और समाचारपत्रों के सम्पादकीय विभाग में कार्य करनेवाले सज्जन इनसे लाभ उठाकर भविष्य में अपनी भाषा के परिमार्जन का विशेष यत्न करेंगे।

यहाँ हम सभी प्रकार के समाचारपत्रों से कुछ ऐसे उदाहरण देते हैं जिनसे सहज में पता चल जायगा कि समाचारपत्रों में भाषा की कितनी दुर्दशा होती है। हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि ये सब उदाहरण बिना किसी विशेष प्रयास के, यों ही समाचारपत्र उलटते समय, एकत्र किये गये हैं। आप भी यदि चाहें तो नित्य और अनायास इस प्रकार के बीसियों उदाहरण एकत्र कर सकते हैं; और इस प्रकार के दुष्ट प्रयोगों से बच सकते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. दिल्ली में दो गिरफ्तारी।
२. ८ जरमन जहाज डूबा।
३. ५० हजार रुपये और भेजा।
४. २७५ भूख से तडपते व्यक्ति।
५. हिन्दू जाति कुछ भी उन्नति न किए पाई।
६. बाढ़ से फसल सर्वनाश हो रहा है।
७. पर दो पुरस्कार एक आदमी को नहीं मिलेगा।
०. कपड़े उतार कर रख दिया।
९. कोर्ट में मुकदमे चल पड़े।
१०. भारत के अन्य प्रान्त अन्न संचय किये हैं।
११. उसने कहा कि मैं चार भाई हूँ।
१२. ब्रिटिश सरकार चाहे नियंत्रण मुक्त कर सकती है।
१३. उन्होंने बहुत से ग्रन्थ अनुवाद किये हैं। आदि।

अनेक अवसरों पर तो लिंग सम्बन्धी इतनी साधारण भूलें देखने में आती हैं कि समाचारपत्र पढ़ते पढ़ते हाथ से फेंक देने को जी चाहता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. उसके सींघें नहीं थीं।

२. रिक्शा का अगली पहिया टूट गई।

३. हमारी शक्ति हमें यह कडवी घूँट पी लेने का वल देगी। (जरा 'शक्ति···वल देगी' पर भी ध्यान दीजिएगा।)

४. कुछ लोग यह चाहते हैं कि कांग्रेस यह कड़वी घूँट पीये।

५. दूसरी कन्दें भी इसी प्रकार गुणकारी हैं।

६. लखनऊ की स्टेशन पर पहुँचकर मैंने देखा।

७. इस काम में कुछ देर लगना स्वाभाविक थी।

८. हम नई प्रकार की मृत्यु चाहते हैं।

९. अमेरिका में गिरिफ्तारी—फासिस्ट नेता के कन्या की।

१०. सड़कें और नलें फट गईं।

एक दैनिक पत्र में समाचारों के शीर्षक इस प्रकार छपे थे—

५ कांग्रेसजन दंडित।

अलमोड़ा में भारत-रक्षार्थ।

पुलिस के वेष में हूर।

घोखा देकर गाँव लूटी।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि दूसरे शीर्षक में प्रेस के भूतों की कृपा से 'लूटा' का 'लूटी' हो गया होगा। असल बात यह है कि उसके ऊपर पहली पंक्ति में जो 'पुलिस' है, उसी ने लेखक को भ्रम में डालकर नीचे 'लूटी' लिखने को विवश किया है। कुछ और प्रकार की भद्दी भूलें देखिए—

१. भूकम्प के धक्के से बहुत से लोग खटिये पर से फेंका गये।

२. जो जहाँ मिला, वह वहीं से रक्षा-गृह में फाँध दिया गया।

३ वे अपनी स्त्री को वहाँ भेजे होंगे और उसे अपराध में शामिल कराये होंगे।

४. वह फफक फफककर रोने लगा।

५. तत्काल दक्षिण भारत का दशा भी बहुत नाज़ुक हो चला है ।
६. अलग से खाद्य विभाग कायम करने की योजना ।
७. वहाँ खाना, कपड़ा और दूसरी सब प्रकार की चीजों की कमी थी ।
८. उन्हें केवल सजावट के लिए मैंने यहाँ रख दिए हैं ।
९. बंगाल में भूख की व्यापक घटनाएँ ।
१०. वर्दवान में सड़कों पर लाशों के दृश्य ।
११. हर जगह मौत का ताँता ।
१२. वह लोग कुछ फायदा लेकर दूकानदारों के हाथ बेच देते हैं ।
१३. युद्ध-काल में उसे पहले के लाभ को देकर घाटे से भी बेचना पड़ेगा ।
१४. जिसमें तेजी या मन्दी अथवा दोनों लगा हो ।
१५. पुलिस में दस हजार रुपये की दगा की रिपोर्ट की गई थी ।
१६. आर्डिनेन्स के लागू होने की देर नहीं हुई कि लोग भागने लगे ।
१७. संसार भर उन्हें और उनकी मारफत उनके देश की सरकार को लज्जित करता है ।
१८. विशिष्ट दर्शकों में निम्नलिखित नाम उल्लेखयोग्य हैं ।
१९. वे भर-पूर यत्न में डटे ही हैं ।
२०. सभी कर्मचारियों की फेहरिस्त और किसे कितना वेतन मिलता है, इसकी सूची माँगी गई है ।
२१. ६ मास जल-सेना के गुप्त संकट का फल ।
२२. नानबाई के दूकानदारों ने अपनी दूकानें बन्द कर देने का निश्चय किया है ।
२३. वहाँ के निवासियों की रहन-सहन का दरजा ऊपर उठाने का प्रयत्न होगा ।
२४. प्रशान्त के हमले से चीन को राहत मिली है ।
२५. आसाम की सीमा पर युद्ध लड़ा जा रहा है ।
२६. उन्होंने राजा रघुनाथराव के विषय की जो कविता की थी, उसे जगद् विनोद में रख दी ।
२७. दुर्घटना घटते बची ।

२८. मोटर दुर्घटना में फँसे ।

२६. ग्रामीण और डाकुओं में युद्ध ।

३०. मछली जापानी बमों के शिकार ।

३१. कैसिनो में जरमन एक एक भागे ।

३२. वे सरकार की इस नटखट सलाह पर अमल न करेंगे ।

३३. साम्प्रदायिक उपद्रव बचा ।

३४. गान्धी जी की जिच हटाने की चेष्टा ।

३५. ऊपर शीर्षक है—'शिमला में गोली कांड' और नीचे समाचार आरम्भ होता है—'शिमले से खबर आई है········ ।'

समाचारपत्रों के सम्पादकीय विभाग में काम करनेवाले अँगरेजी से अनुवाद करते करते अँगरेजी भाव-व्यंजन प्रणालियों के इतने अधिक अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे अपनी वाक्य-रचना अँगरेजीपन के प्रभाव से किसी तरह बचा ही नहीं सकते । जो बात बहुत ही सीधे-सादे ढंग से, बहुत ही सहज में लिखी जा सकती है, वह भी वे जबरदस्ती इतनी चक्करदार बना देते हैं कि उसमें आवश्यकता से अधिक विस्तार, अस्पष्टता और भद्दापन आ जाता है। उदाहरणार्थ—"उनके जीवित रह सकने की आशा भी बहुत हिम्मत बाँधकर ही की जा रही थी ।' यही बात सीधी तरह से इस प्रकार लिखी जा सकती थी—"उनके जीवित रहने की बहुत ही कम आशा रह गई थी।" अथवा "उनके जीवन से सब लोग निराश से हो रहे थे ।" इस प्रकार के कुछ और उदाहरण लीजिए—"इस मामले को लेकर नई आज्ञा यह अनुमान नष्ट कर रही है ।" "क्या यदि उसकी इस आशंका के अनुसार ऐसी स्थिति सामने आई तो वह उसे सँभालने का कार्य कर सकती है ?" "वैदेशिक सूत्रों से हाल के सप्ताह में जो यह नई चर्चा चल खड़ी हुई है······ ।" "उस पर इस कर्त्तव्य का भार रखने की योजना की गई थी ।" "उनकी बातों ने जानकार क्षेत्रों को रहस्य में डाल दिया है ।" आदि

इस प्रकार की बेढंगी भाषा लिखते लिखते जब लोग और आगे बढ़ते हैं, तब उनकी भाषा में और भी अनेक प्रकार की भूलें आने लगती हैं । अनेक स्थलों पर वे कुछ बँधे हुए शब्दों का इस प्रकार प्रयोग करने लगते हैं कि

मानों वे उनका ठीक ठीक अर्थ जानते ही नहीं। परिणाम यह होता है कि उनकी वाक्य-रचना उनके मूल आशय से बहुत दूर जा पड़ती है। "भारतवासियों के पास जितना ही अधिक धन होगा, वे उतना ही अधिक अँगरेजी माल खरीदेंगे।' मानों यह एक निश्चित सिद्धान्त हो कि भारतवासी सदा अँगरेजी माल खरीदने पर तुले रहेंगे! लेखक का वास्तविक अभिप्राय तो यह था कि भारतवासियों के हाथ में अधिक धन होने पर उनकी अँगरेजी माल खरीदने की सामर्थ्य बढ़ जायगी। परन्तु वाक्य-रचना से यह अभिप्राय किसी प्रकार प्रकट नहीं होता। "कुल १५० आदमी, जिनमें ५० पुलिसवाले भी शरीक हैं, घायल हुए।' इसमें 'शरीक' शब्द का बिलकुल गलत प्रयोग हुआ है; उसके स्थान पर 'शामिल' होना चाहिए। 'शरीक' शब्द का व्यवहार उस अवस्था में होता है, जब कुछ लोग मिलकर खुद कोई काम करने के लिए तैयार होते हैं। 'शरीक' वह कहलाता है जो किसी काम में सहायक होता है। आदमी खाने-पीने में शरीक हो सकता है, चोरी करने या डाका डालने में शरीक हो सकता है या हिस्सा बँटने के समय अपना हक लेने के लिए उसमें शरीक हो सकता है। पर यह मार खाने और घायल होने में शराकत कैसी? मार खानेवालों में तो वह अधिक से अधिक शामिल ही रहेगा। "हर देश अपने भाग्य का स्वयं ही अधिष्ठाता है।" ('विधाता' होना चाहिए।) "डालर की दर चोर-बाजार में एक हजार से ७२० डालर हो रही है, जब कि सरकारी दर ८० डालर मात्र है।" का क्या अर्थ है?

कोई परिवार रेल से यात्रा कर रहा था। इस सम्बन्ध की एक घटना का उल्लेख एक समाचार-पत्र में इस प्रकार हुआ था—"संयोगवश परिवार की एक छोटी लड़की रेल से नीचे गिर पड़ी।" यहाँ 'संयोग' कितना खटकता है! 'संयोग' शब्द का व्यवहार या तो प्रायः अच्छी बातों के सम्बन्ध में होता है या ऐसी बातों के सम्बन्ध में जो अच्छी न होने पर भी कम से कम बुरी न हों। किसी शोचनीय दुर्घटना के सम्बन्ध में 'संयोग' शब्द ठीक नहीं है। हाँ यदि किसी दुःखद घटना के साथ कोई अच्छी घटना भी आ घटे तो अवश्य वहाँ 'संयोग' का प्रयोग हो सकता है।

एक सामयिक पत्र में एक चित्र का परिचय इस प्रकार छपा था—"बम

को बेकार बनाया जा रहा है।" आशय यह था कि बम ऊपर से गिरा है, पर फटा नहीं। यह चित्र उस क्रिया का है जिससे बम अब बेकार हो जायगा और फट कर हानि न पहुँचा सकेगा। परन्तु स्वयं वाक्य के शब्दों से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि बम व्यर्थ ही बनाया जा रहा है, इसका कोई उपयोग न हो सकेगा इसे बनाने की सारी मेहनत बेकार होगी!

एक दैनिक पत्र में निकला था—'कोई भी व्यक्ति सोना खाकर जीता नहीं रह सकता।' इस वाक्य में 'भी' का जो प्रयोग है, उसके सम्बन्ध में आगे चलकर विचार किया जायगा। यहाँ ध्यान केवल इस बात पर देना है कि लेखक का वास्तविक आशय यह है कि यदि आदमी के पास सोना हो तो उसी से उसका निर्वाह नहीं हो सकता; उसे खाने-पीने के लिए अन्न-जल की भी आवश्यकता होगी ही। पर वाक्य के शब्दों से यह अर्थ निकलता है कि सोना किसी तरह का जहर है; और जो उसे खाता है, वह मर जाता है! मुख्य आशय से शब्दार्थ कितना दूर जा पड़ा है! 'जीता नहीं रह सकता' की जगह 'जी नहीं सकता' भी होता तो अर्थ कुछ स्पष्ट हो जाता।

एक और समाचारपत्र में एक समाचार के अन्तर्गत निकला था—'वहाँ के आला औजार नष्ट कर दिये गये।' इसमें आला भी संज्ञा के रूप में और औजार या उपकरण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है; पर यों देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि यह उस विशेषण के रूप में आया है जिसका अर्थ होता है—उत्तम या श्रेष्ठ। यदि संज्ञा 'आला' का बहुवचन रूप 'आले' दे दिया जाता और औजार के साथ उसका सम्बन्ध दिखलाने के लिए उसके बाद संयोजक चिह्न लगा दिया जाता तो अर्थ की यह गड़बड़ी न होने पाती।

जब एक बैल-गाड़ी किसी रेल-गाड़ी से टकराकर चकनाचूर हो गई थी, तब एक पत्र में शीर्षक छपा था—'ट्रेन बैल-गाड़ी भिड़न्त'। पर लिखते समय यह नहीं सोचा गया कि भिड़न्त तो बराबरवालों में होती है। ट्रेन के मुकाबले में बैल-गाड़ी क्या चीज है! भला शेर और चूहे में कभी भिड़न्त या टक्कर हो सकती है? पर यहाँ तो यह सिद्धांत रहता है कि कुछ लिख डालो; पढ़नेवाले आप ही समझ लेंगे।

समाचारपत्रों में अँगरेजी से जो अनुवाद होते हैं, उनके सम्बन्ध में एक

और बात बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है। एक ही वाक्य का दस जगह दस तरह से अनुवाद होता है। यहाँ हम केवल एक उदाहरण देना यथेष्ट समझते हैं। कुछ दिन पहले एक अवसर पर पं० जवाहरलाल जी नेहरू ने अँगरेजों और अँगरेजी सरकार को सम्बोधन करते हुए कहा था—'वी हैव हैड एनफ आव् यू, गेट आउट।' स्थानीय 'आज' के साप्ताहिक संस्करण के २९ दिसम्बर १९४१ के अंक में बतलाया गया था कि इस वाक्य के भिन्न-भिन्न पत्रों ने कितने प्रकार के अनुवाद किये थे।

नमूने देखिये—

आज (दैनिक)—बहुत हो चुका, अब पधारिये।

भारत—हम आपसे ऊब गये हैं, आप दूर ही रहिये।

राष्ट्रवाणी—हम लोग आपसे बहुत कुछ पा चुके, अब आप अपनी तशरीफ ले जायँ।

प्रताप—हमें आपका काफी अनुभव हो चुका है, अब आप निकल जाइए।

आर्यावर्त्त—आपको बहुत देख चुके, अब आप चले जाइए।

अधिकार—हम आपका काफी अनुभव कर चुके हैं, अब आप निकल जायँ।

विश्वमित्र (साप्ताहिक)—हम तुमसे बहुत तृप्त हो चुके, अब अपना रास्ता लो।

वीर अर्जुन—तुमसे भर पाये, निकल जाओ।

राजस्थान—हम आपके साथ बहुत रह चुके, अब बाहर निकल जाओ।

आज (साप्ताहिक)—जनाब बहुत हो गया, क्षमा कीजिए।

कुछ और पत्र—

बहुत हो चुका, अब चलते फिरते नजर आइये।
बस हद हो गई, अब भाग जाइए।
बस अति हो गई, अब प्रस्थान कीजिए।
तुमसे हमारा मन भर गया है, निकल जाओ।
बहुत हो चुका, अब रास्ता नापिये। आदि।

हिन्दी में होनेवाले विचित्र अनुवादों के उक्त उदाहरण पर विचार करने से कई बातें प्रकट होती हैं। पहली बात तो यह है कि हिन्दी में न तो अनुवाद की और न भाषा की कोई स्थिर शैली है। दूसरी बात यह है कि पं० जवाहर-लाल नेहरू का मूल वाक्य जितना जानदार था, उतना जानदार हिन्दी में एक भी अनुवाद न हो सका। नेहरू जी का उक्त मूल अँगरेजी वाक्य तो अमर सा हो गया, पर उसके मुकाबले में हिन्दी में कोई ऐसा वाक्य न बना जो उतना सजीव और अमर होता। और तीसरी सबसे बड़ी बात जो हमारे ध्यान में आती है, वह यह है कि अँगरेजी की समाचार भेजनेवाली एजेन्सियों के समान हिन्दी में समाचार भेजनेवाली एजेन्सी या संस्था की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। जो हिन्दी सारे राष्ट्र की भाषा बनने का दम भरती हो, उसके लिए यह अभाव लज्जाजनक है। यदि हिन्दी में समाचार भेजनेवाली कोई संस्था बन जाय और वह हिन्दी में ही समाचार भेजा करे तो हिन्दी समाचारपत्रों के मार्ग की बहुत बड़ी कठिनाइयाँ सहज में दूर हो जायँ। अँगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करने के लिए जगह जगह सब को जो परिश्रम करना और समय लगाना पड़ता है, उसकी बहुत बड़ी बचत हो जाय। वही एजेन्सी अपने यहाँ सुयोग्य अनुवादक रखकर विशुद्ध और निर्दोष भाषा में सब पत्रों के पास समाचार भेजा करे। ऐसी एजेन्सी में काम करनेवाले विद्वान भाषा का एक अच्छा आदर्श उपस्थित कर सकेंगे; और वह आदर्श समस्त हिन्दी जगत के लिए परम अनुकरणीय होगा।

यह तो सभी लोग जानते हैं कि दक्षिण हैदराबाद में निजाम सरकार की कृपा से उर्दू का प्रचार बहुत जोरों से हो रहा है। सुनते हैं कि उस राज्य में ही शायद आठ-दस दैनिक पत्र उर्दू में निकलते हैं। जो कठिनाइयाँ हम हिन्दीवालों के सामने हैं, वही सब कठिनाइयाँ उन पत्रों के सम्पादकों के सामने भी आती रहती हैं। इसलिए वहाँ के सब सम्पादकों ने मिलकर अपना एक मंडल बना रखा है। समय समय पर उस मंडल के अधिवेशन होते रहते हैं, जिनमें लोग अपनी अपनी कठिनाइयों का वर्णन करते हैं और सब लोग मिल-कर उन कठिनाइयों से बचने के मार्ग निकालते हैं। वहीं बहुत से अँगरेजी शब्दों के लिए पर्याय भी निश्चित होते हैं, जिनका सब लोग समान रूप से

व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वे लोग अपनी भाषा में यथा-साध्य एक-रूपता लाने का प्रयत्न करते हैं जिसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी होती है। हमारे यहाँ भी हिन्दी पत्रकारों का सम्मेलन होता है; और उस सम्मेलन ने एक पत्रकारोपयोगी कोष बनवाना भी निश्चित किया है, जिसका कार्य आरम्भ हो गया है। फिर भी यदि ऐसे सम्मेलनों के समय सम्पादक लोग मिलकर भाषा सम्बन्धी कुछ प्रश्नों पर विचार किया करें तो उससे बहुत लाभ हो सकता है।

समाचार-पत्रों में विज्ञापन भी रहते ही हैं। विज्ञापन वस्तुतः समाचारपत्रों के जीवन-निर्वाह में बहुत अधिक सहायक होते हैं। यदि समाचारपत्रों में विज्ञापन न रहा करें तो उनका चलना ही असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाय। खैर, हमारा मतलब तो उन विज्ञापनों की भाषा से है। हम देखते हैं कि अनेक विज्ञापनों की भाषा स्वयं समाचारपत्रों की भाषा से भी कहीं बढ़कर रद्दी होती है। ग्रामोफोन के रेकार्डों के एक विज्ञापन में एक रेकार्ड के गीत का परिचय इस प्रकार छपा था—'नैयन से नैयन मिला ले'। गीत होगा—'नैन से नैन मिला ले।' एक फिल्म के विज्ञापन में एक बार देखा था—'कीसी से न कहेना'। बुखार की एक दवा के विज्ञापन में छपा था—'तमाम जाति का ज्वर में अक्सर (अक्सीर) उपाय।' ताल मिसरी के एक विज्ञापन में लिखा था—'ईस के व्यवहार से बच्चों नीरोग और बलिष्ठ होता है।'

अगस्त १९४२ में जो राजनीतिक उपद्रव हुए थे, उनके शान्त हो जाने पर सरकार ने भी विज्ञापन की शरण ली थी। उसकी ओर से भी तरह तरह के विज्ञापन प्रकाशित होने लगे थे। विज्ञापनों में लोगों को उपद्रवों में सम्मिलित न होने और उन्हें रोकने की सलाह दी जाती थी। उनमें से एक विज्ञापन का शीर्षक था—'अपने मित्रों से ये प्रश्नों को पूछिये।' यह उस सरकार का विज्ञापन था जिसके प्रकाशन विभाग से बहुत कुछ ठिकाने की हिन्दी में "युद्ध समाचार" भी प्रकाशित होता है !

अवश्य ही अधिकांश विज्ञापन समाचारपत्रों के पास लिखे-लिखाये या छपे-छपाये आते हैं; और कुछ अवस्थाओं में उनके बने हुए ब्लाक भी आते हैं। अधिकांश विज्ञापन प्रायः बहुत बड़ी बड़ी कम्पनियों के ही होते हैं, जिनके बड़े बड़े दफ्तर कलकत्ते और बम्बई आदि नगरों में होते हैं। हमारे लिए यह

तो बहुत कुछ श्लाघा की बात है कि प्रायः सभी विज्ञापनदाता अपने विज्ञापन हिन्दी में देना भी आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार वे लोग हिन्दी का देशव्यापी महत्व मान लेते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर उनके इस सम्मान के साथ ही एक प्रकार का अपमान भी लगा रहता है। अन्यान्य भाषाओं के विज्ञापन तो वे लोग उन उन भाषाओं के अधिकारी लेखकों से तैयार कराते हैं। पर हिन्दी के विज्ञापन लिखाते समय वे अधिकारी और अनधिकारी का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। जो सामने आया, उसी को हिन्दी का विज्ञापन लिखने का काम दे देते हैं। यही कारण है कि अन्य भाषाओं के विज्ञापनों में तो भाषा की भूलें बहुत कम होती हैं, पर हिन्दी के विज्ञापन अशुद्धियों से भरे रहते हैं।

ऐसे विज्ञापनों के संबंध में भी समाचारपत्रों का कुछ कर्त्तव्य होना चाहिए। भद्दी भाषा में लिखे हुए जो विज्ञापन उनके यहाँ आवें, उनकी भाषा संबंधी भूलें उन्हें स्वयं दूर कर देनी चाहिएँ। छपे हुए विज्ञापनो की भाषा भी इसी प्रकार सुधारी जा सकती है। यदि बने-बनाये ब्लाकों की भाषा में अशुद्धियाँ हों तो समाचारपत्रों को ऐसे ब्लाक छापने से इन्कार कर देना चाहिए। यदि जीविका के विचार से वे इस तरह इन्कार करने का साहस न कर सकते हों तो भी कम से कम अपनी भाषा शुद्ध रखने के विचार से वे विज्ञापनदाताओं को यह तो अवश्य ही सूचित कर सकते हैं कि आपके विज्ञापन में अमुक अमुक अशुद्धियाँ हैं; आगे जब आप दोबारा ब्लाक बनवावें, या विज्ञापन लिखवावें, तो उसे ऐसी अशुद्धियों से बचावें। पर यह तभी हो सकता है, जब समाचारपत्रोंवाले स्वयं अपनी भाषा सुधार लें!

१०

अनुवाद की भूलें

अभी हाल तक हिन्दी में अनुवादों की धूम थी। आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का आरम्भ ही वस्तुतः अनुवादों से हुआ था। ऐसा होना प्रायः अनिवाय भी था, और अनेक अंशों में उपयोगी तथा आवश्यक भी आज-कल किसी नई भाषा को अपने पैरों पर खड़े होने के समय दूसरी भाषाओं का सहारा लेना ही पड़ता है। स्वतन्त्र साहित्य की रचना तो अनुवाद-युग के बाद ही आती है। पहले दूसरी भाषाओं के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत होते हैं। उन अनुवादों की सहायता से पाठकों का ज्ञान बढ़ता है और उनकी आँखें खुलती हैं। वे देखते हैं कि अन्यान्य भाषा-भाषी कैसे अच्छे अच्छे, स्वतन्त्र तथा मौलिक ग्रन्थ लिखते हैं। उन्हीं पाठकों में से कुछ के हृदय में उसी तरह के स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की लालसा उत्पन्न होती है, जो स्वतन्त्र साहित्य के निर्माण में बहुत सहायक होती है। और तब कुछ दिनों में यथेष्ट स्वतन्त्र साहित्य का निर्माण होने लगता है। इन्हीं सब दृष्टियों से हम अपने यहाँ के पुराने अनुवादों को आदर की दृष्टि से देखते हैं।

अनुवाद की आवश्यकता का यहीं अन्त नहीं हो जाता। किसी भाषा और साहित्य के बहुत कुछ पुष्ट और उन्नत्त हो चुकने पर भी उसमें अनुवादों की आवश्यकता बनी ही रहती है। पर उस समय दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल जाता है। भाषा की आरम्भिक या शैशवावस्था में तो आँखें मूँदकर अन्धाधुन्ध अनुवाद करने की प्रवृत्ति रहती है। पाठकों की रुचि भी तब तक परिष्कृत नहीं होती। इसी लिए उस समय बहुत सामान्य अथवा निम्न कोटि के ग्रन्थों के साधारण-से अनुवाद ही प्रकाशित होते हैं। बिक्री भी प्रायः इसी प्रकार के साहित्य की अधिक होती है। प्रकाशक और अनुवादक दोनों ही लाभ उठाने की धुन में रहते हैं। परन्तु जब भाषा और साहित्य दोनों आगे बढ़कर पुष्ट होते हैं,

और युवावस्था में प्रवेश करते हैं, तब उनके साथ ही साथ पाठकों की रुचि भी बहुत कुछ परिष्कृत हो जाती है। और इसी लिए उस समय अच्छे ग्रन्थों के अच्छे अनुवादों के साथ-साथ उच्च कोटि के मौलिक साहित्य की रचना भी आरम्भ होती है। हमारा वर्तमान हिन्दी साहित्य बहुत कुछ इसी अवस्था में पहुँच रहा है।

जब भाषा पूर्ण पुष्ट तथा साहित्य परम उन्नत हो जाता है, तब भी अनुवादों की आवश्यकता बनी ही रहती है। अन्यान्य भाषाओं में जो अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित होते हैं, उनके अनुवाद भी लोगों को अपनी भाषा में प्रकाशित करने ही पड़ते हैं। यदि ऐसा न हो तो उस भाषा के पाठक दूसरी भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों और उनमें प्रतिपादित विचारों तथा सिद्धांतों आदि से वंचित ही रह जायँ। उस अवस्था में पहुँचने पर भाषा-साहित्यों में परस्पर होड़ सी लगने लगती है। हमारे मन में भी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि हम भी वैसे ही ग्रन्थ प्रस्तुत करें, जैसे अन्यान्य भाषाओं में हो रहे हैं।

एक बात और है। किसी भाषा के साहित्य की शोभा मौलिक ग्रन्थों से तो होती ही है, पर अनुवाद भी उसकी श्रीवृद्धि में कम सहायक नहीं होते। आज अँगरेजी भाषा का साहित्य अपनी मौलिक रचनाओं के कारण तो इतना उन्नत और आदरणीय है ही, अपने अनुवादों के कारण भी वह कम विशाल और सम्मान्य नहीं है। अँगरेजी भाषा में संसार भर की प्रायः सभी भाषाओं के उपादेय ग्रन्थों के अनुवाद मौजूद हैं। यदि आप संसार के किसी कोने की भाषा के किसी अच्छे ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहें, तो बहुधा आपको अँगरेजी का ही आश्रय लेना होगा। प्राचीन मिस्र या फिनीशिया की दो-चार हजार बरस पहलेवाली भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना तो हर आदमी का काम नहीं है; पर अँगरेजी की सहायता से सब लोग उन भाषाओं में रक्षित साहित्य तक पहुँच सकते हैं। अँगरेजी साहित्य की यही विशेषता बहुत से लोगों को अँगरेजी सीखने में प्रवृत्त करती है। जब हम सुनते हैं कि बँगला या मराठी में उच्च कोटि के बहुतेरे ग्रन्थ हैं, तब हम भी बँगला या मराठी का कुछ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अच्छा साहित्य और

अच्छे अनुवाद भाषा के प्रचार में बहुत सहायक होते हैं।

अनुवादों में एक बात और होती है। हम पहले कई जगह यह संकेत कर चुके हैं कि प्रत्येक भाषा की एक स्वतन्त्र प्रकृति होती है और उसमें भाव-व्यंजन की कुछ विशिष्ट प्रणालियाँ होती हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थों में कुछ विशिष्ट प्रकार के भाव तथा शब्द भी होते हैं। जब हम दूसरी भाषाओं के ग्रन्थों के अनुवाद करते हैं, तब प्रायः हमें बहुत से नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं और बहुत से पद-प्रकार भी लेने पड़ते हैं। इस प्रकार के अनुवादों में वही अनुवाद श्रेष्ठ समझे जाते हैं जो भाव तथा विचार यथा-तथ्य प्रकट करने के अतिरिक्त अपनी भाषा की विशिष्ट प्रकृति का भी ध्यान रखकर किये जाते हैं। अन्यथा वे दूषित और अग्राह्य होते हैं।

हमारे लिए यह गौरव की बात है कि हमारे यहाँ के अधिकांश नितान्त आरम्भिक अनुवादक अनेक दृष्टियों से अच्छे ही थे। उस समय के अनुवादकों को उन भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान होता था, जिनसे वे अनुवाद करते थे; और अपनी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार होता था। भाषा के तो वे पथ-प्रदर्शक ही थे। अतः उनके अनुवाद बहुत कुछ निर्दोष होते थे। पर आगे चलकर जब उनकी देखा-देखी अनुवादों की बाढ़ आने लगी, तब अवस्था भी धीरे धीरे बिगड़ने लगी। इधर कुछ दिनों से हमने भाषा की ओर ध्यान देना छोड़ दिया और अनुवाद्य ग्रन्थ का ठीक ठीक आशय समझने की ओर भी विशेष लक्ष नहीं किया। परिणाम यह हो रहा है कि प्रायः भ्रष्ट, भद्दे और अशुद्ध अनुवादों से ही हमारा साहित्य भर रहा है।

अनुवादों का आरम्भ हमने बँगला से किया था। अतः हम पहले बँगला के अनुवादो में ही दिखाई देनेवाली कुछ भूलों का निर्देश करना चाहते हैं। आज-कल हिन्दी में बँगला के बहुत से नाटकों और उपन्यासों के जो अनुवाद होते हैं, उन्हें देखने से साधारणतः यही धारणा होती है कि अनुवादक न तो बँगला अच्छी तरह जानते हैं और न हिन्दी। वे यह तत्त्व बिलकुल भूल जाते हैं कि अनुवादक को उस भाषा का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, जिस भाषा से वह अनुवाद करने चला हो। साथ ही उस भाषा पर भी पूरा अधिकार होना चाहिए, जिसमें वह अनुवाद करने बैठा हो।

किसी भाषा का वर्ण-परिचय से कुछ ही उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके और अपनी भाषा बिना अच्छी तरह सीखे यदि हम अनुवाद करने बैठेंगे तो क्या दशा होगी ? वही, जो इस समय दिखाई दे रही है।

बँगला का एक साधारण शब्द लीजिए 'मा'। यह विशुद्ध संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ है—'माता'। हमारे यहाँ इस शब्द में आकार की मात्रा पर अर्द्ध-चन्द्र भी चढ़ा दिया गया है और उसका रूप हो गया है—'माँ'। बँगला में 'मा' शब्द 'माता' के अतिरिक्त अन्यान्य आदरणीय स्त्रियों के लिए भी प्रत्युक्त होता है; जैसे—'मासी मा'। यहाँ तक कि कन्याओं और बहुओं के लिए भी वह प्रत्युक्त होता है। वे अपनी बेटी को सम्बोधित करते समय भी कहते हैं—'मा आमार' और बहुओं के लिए भी—'बौ मा' (बहू मा) का प्रयोग करते हैं[1]। पर हम हिन्दीवाले बड़ी और मातृ-स्थानीय स्त्रियों के लिए तो केवल 'माँ' शब्द का अवश्य प्रयोग करते हैं, परन्तु पद वा अवस्था में अपने से छोटी स्त्रियों तथा कन्याओं, बहुओं और बालिकाओं आदि के लिए इसका प्रयोग नहीं करते। हमारे यहाँ उसका 'मा' वाला रूप और बँगला-वाला अतिरिक्त अर्थ नहीं है। पर कुछ अनुवादक यह तत्त्व और अन्तर न समझकर अवनुाद के समय माता या पिता तक के मुँह से लड़की के

---

१ संस्कृत में 'मा' लक्ष्मी को भी कहते हैं। यथा—

इन्दिरा लोकमाता मा क्षीराब्धि-तनया रमा। अमर०

जान पड़ता है कि बँगला में भी उक्त अवसरों पर 'मा' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। बंगाल में 'लक्ष्मी' शब्द का विशेष रूप में प्रचार है। बंगाली इसका उच्चारण 'लक्खी' या 'नक्खी' करते हैं। वे 'लक्खी माँ' और 'लक्खी बौ (बहू)' तो कहते ही हैं; 'लक्खी छेले (लड़का)' तक कहते हैं। ऐसे अवसरों पर उसका अर्थ 'बहुत अच्छा' होता है; और उसका व्यवहार बहुत कुछ उसी रूप में होता है, जिस रूप में हमारे यहाँ 'राजा बेटा' और 'रानी बेटी' में 'राजा' या 'रानी' का होता है। अतः हम समझते हैं कि बँगला में बेटी या बहू के लिए 'मा' का जो प्रयोग होता है, वह 'लक्ष्मी' के अर्थ में ही होता है, 'माँ' के अर्थ में नहीं हो सकता।

लिए 'मा' की जगह अपनी भाषा के शब्द 'माँ' का प्रयोग करा के स्वयं तो हास्यास्पद बनते हैं, अपनी भाषा को भी हास्यास्पद बनाते हैं।

एक दूसरा शब्द है 'जांला' या 'जाङ्ला' जो हिन्दी के 'जँगला' का ही रूपान्तर है। परन्तु इस शब्द के हिन्दी और बँगला अर्थों में भेद है। हमारे यहाँ लोहे आदि के छड़ों की उस पंक्ति को जँगला कहते हैं जो खिड़कियों या बरामदों आदि में लगी होती है। हम जिसे जँगला कहते हैं, वह स्थिर और अपने स्थान पर दृढ़तापूर्वक जड़ा हुआ होता है। परन्तु बँगला में 'जांला' खिड़की मात्र को कहते हैं, फिर चाहे उसमें लोहे के छड़ लगे हों और चाहे काठ के दिल्ले या तख्ते। हम जिस तरह खिड़की खोलते और बन्द करते हैं, उसी तरह बंगाली 'जांला' खोलते और बन्द करते हैं। पर हम यह अन्तर बिना समझे लिख चलते हैं—'वह दरवाजे-जँगले बन्द करने लग गई।'

बँगला में 'खयाल' का रूप होता है—'खेयाल'। हम जिन अर्थों में 'खयाल' शब्द का प्रयोग करते हैं, उन अर्थों में तो बँगलावाले उसका प्रयोग करते ही हैं, उनके अतिरिक्त कुछ और अर्थों में भी वे उसका प्रयोग करते हैं। 'स्वप्न', 'प्रलाप' और 'प्रिय उद्देश्य', आदि के अर्थों में भी बँगला में 'खेयाल' शब्द प्रयुक्त होता है। इस 'खयाल' शब्द से हम लोग जो 'खयाली' शब्द बनाते हैं, वह हमारे यहाँ केवल विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे—खयाली पुलाव। पर बँगला में 'खेयाली' विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अर्थों में संज्ञा की भाँति भी प्रयुक्त होता है। जैसे 'खेयाली' का एक विशिष्ट अर्थ होता है—'मन-मौजी'। किन्तु इस बात का विचार किये बिना ही हम हिन्दी में 'खयाली' शब्द ज्यों का त्यों ले लेते हैं, चाहे पाठकों की समझ में उसका कुछ भी अर्थ न आवे।

बँगला से बिना समझे-बूझे और आँखें बन्दकर के किये जानेवाले अनुवाद का एक बढ़िया नमूना एक उपन्यास में इस रूप में मिला था—'उसने मुड़की का फलाहार किया।' पहली बात तो यह है कि लेखक ने बँगला का 'मुड़की' शब्द ही ज्यों का त्यों रख दिया। 'मुड़की' वास्तव में गुड़ के शीरे में पागा हुआ धान का लावा होता है। हमारे यहाँ धान के लावे के लिए भी और साथ ही उसे शीरे में पागकर तैयार किये हुए उसके रूप

के लिए भी 'लाई' शब्द है। खैर, यह तो शब्द-ज्ञान का अभाव हुआ। पर समझने की बात यह थी कि धान के लावे अथवा उसके और किसी रूप के लिए 'फलाहार' शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है? धान की गिनती तो अन्नों में होती है, फलों में नहीं। वास्तव में बात यह है कि बँगला का एक शब्द 'फलार' है। जब दूध में धान का लावा या इसी तरह की कोई और चीज डालकर उसे कुछ देर तक उसमें फुलाते हैं, तब उसका जो रूप होता है, उसे बँगला में 'फलार' कहते हैं। अनुवादक ने इसी 'फलार' शब्द को 'फलाहार' का रूप देकर मानों अर्थ का अनर्थ कर डाला था!

इसी प्रकार का एक और उदाहरण है—'सबने खूब मजे लिये।' बँगला में 'मजा' प्रायः मजाक के लिए बोला जाता है। होना चाहिए था—'सबने खूब दिल्लगी उड़ाई।' पर अनुवाद हो गया—'सबने खूब मजे लिये।' इसी प्रकार कोई लिखता है—'एक ही छाक में सूखकर आधा हो गया।' और कोई लिखता है—'एक छाक दाल भात राँधने में मुझे तकलीफ न होगी।' यह 'छाक' क्या है? अनुवादक के अज्ञान और ला-परवाही का नमूना। इसी प्रकार कहीं लिखा मिलता है—'इस घर में रहना पुसाएगा नहीं।' कोई लिखता है—'सत्य सुख उठा है।' और कोई लिखता है—'रक्त बह उठा है।' तात्पर्य यह कि अनुवाद करते समय हम केवल संज्ञाएँ ही ज्यों की त्यों नहीं ले लेते, बल्कि क्रियाएँ, क्रिया-प्रयोग और मुहावरे आदि भी ज्यों के त्यों ले लेते हैं। इस दूषित प्रवृत्ति का सदा के लिए त्याग होना चाहिए।

काल-क्रम के विचार से बँगला के बाद अँगरेजी का स्थान आता है। अब तो अँगरेजी अनुवाद की मात्रा बहुत ही बढ़ चली है। अँगरेजी ग्रन्थों के तो अनुवाद होते ही हैं; पर उनसे भी अधिक अँगरेजी के अनुवाद होते हैं समाचार-पत्रों में समाचारों-वाले स्तम्भ में; और उससे कुछ कम मात्रा में लेखों और टिप्पणियों के स्तम्भ में। ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी है। हमें अधिकांश समाचार पहले अँगरेजी में ही मिलते हैं। संसार भर के बहुत बड़े बड़े लोग भी अपने विचार अँगरेजी में ही प्रकट करते हैं और उन सबसे पाठकों को परिचित कराना सम्पादकों का कर्त्तव्य होता है। हर्ष का विषय है कि इस कर्त्तव्य का पालन बहुत तत्परतापूर्वक होता है। पर इसके साथ ही जो

दूसरा कर्त्तव्य लगा हुआ है, उसकी ओर लोग आँख उठाकर देखने की जरूरत ही नहीं समझते। वह दूसरा कर्त्तव्य है—समझ-बूझकर और बिलकुल ठीक अनुवाद करना। जहाँ इस दूसरे कर्त्तव्य का पालन नहीं होता, वहाँ पहले कर्त्तव्य का पालन निरर्थक ही नहीं, बल्कि कभी कभी अनर्थक भी हो जाता है।

अँगरेजी का एक पद है To be patient with जिसका अर्थ होता है—किसी के उद्धत या अनुचित व्यवहार पर भी शान्त रहना; गम खाना या तरह दे जाना आदि। अँगरेजी के एक वाक्य में इसका प्रयोग being patient with के रूप में हुआ था। हिन्दी के एक पत्रकार ने बिना समझे-बूझे उस वाक्य का इस प्रकार अनुवाद करके रख दिया था—'राष्ट्रपति रूजवेल्ट श्री विन्स्टेन चर्चिल के मरीज हैं।' Patient शब्द दिखाई पड़ा और उसका सीधा-सादा अर्थ 'मरीज' करके रख दिया। पत्रकार जी तो अनुवाद करने बैठे थे। उन्हें वाक्य के अर्थ से मतलब!

एक बार जब बंगाल के एक प्रधान् मंत्री ढाके का दंगा शान्त कराने के लिए वहाँ गये थे, तब उनकी उस flying visit के सम्बन्ध एक पत्र में लिख दिया गया था—'वे हवाई जहाज से ढाके गये थे।' पहले महायुद्ध के समय कलकत्ते के एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—'अब रूस की तरफ से भूरे भालू लड़ने के लिए आ रहे हैं।' यह समाचार हम पहले अँगरेजी समाचारपत्रों में पढ़ चुके थे, इसलिए रहस्य सहज में खुल गया। अँगरेजी में 'ग्रे बियर्ड्‌स' (Grey Beards) पद था, जिसका अर्थ होता है—पके हुए बालोंवाले या अधेड़ आदमी। वास्तव में संवाददाता यह बतलाना चाहता था कि अब रूस में युवकों की इतनी कमी हो गई है कि वहाँ की फौजों में अधेड़ और पके हुए बालोंवाले लोग दिखाई देने लगे हैं। पर अनुवादक महोदय ने 'ग्रे' (Grey) का तो सीधा-सादा अर्थ 'भूरा' कर दिया था और 'बियर्ड्‌स्' (Beards) को कदाचित् प्रेस के भूतों की भूल समझकर या जल्दी में 'बियर्स' (Bears) मान लिया था और उसका अनुवाद कर दिया था—'भालू'। बस 'भूरे भालू' लड़ाई के मैदान में आ डटे!

एक बार एक सज्जन की अनुवादित हस्तलिखित प्रति में देखा था—'शाकल उन दिनों मदरास की राजधानी थी।' उल्लेख था आज से प्रायः दो

हजार वर्ष पहले के पंजाब का। समझ में न आया कि कहाँ पंजाब का 'शाकल' (आधुनिक स्यालकोट) और कहाँ मदरास ! फिर आज से दो हजार बरस पहले स्वयं मदरास ही कहाँ था ! प्रसंग चल रहा था मद्रों का, जो उन दिनों पंजाब में एक प्रबल राष्ट्र के रूप में रहते थे। पर अनुवादक महोदय ने अँगरेजी में मद्र का बहुवचन 'मद्राज़' (Madras) देखकर यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझी कि कर रहे हैं मद्रों का जिक्र। फिर क्यों न इसे 'मद्र' शब्द का अँगरेजी बहुवचन रूप मानें। उनके सामने मदरास का विस्तृत प्रदेश वर्तमान था, अतः उन्होंने लिख दिया—'शाकल उन दिनों मदरास की राजधानी थी।'

एक सज्जन ने अँगरेजी की एक ऐसी पुस्तक का अनुवादक किया था, जिसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की कुछ बातें थीं। उस अनुवाद में छपा था—'श्वेत यजुर्वेद और श्याम यजुर्वेद।' वास्तविक नाम हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। अँगरेजी लेखक ने तो अपने हिसाब से इनका ठीक ठीक अनुवाद कर रखा था—'व्हाइट यजुर्वेद ऐंड ब्लैक यजुर्वेद' (White Yajurveda & Black Yajurveda)। परन्तु अनुवादक महाशय को अपने घर की तो कोई खबर थी ही नहीं। इसलिए उन्होंने 'शुक्ल यजुर्वेद' को 'श्वेत यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' को 'श्याम यजुर्वेद' बनाकर काम चलता किया। इसी कोटि के एक और सज्जन ने अँगरेजी के किसी पुरातत्व सम्बन्धी मासिकपत्र में काश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृत कवि 'जल्हण' के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा था। उसका अनुवाद आपने कुछ इस ढंग से किया था कि लोग समझें कि यह बिलकुल मौलिक और नई खोज हुई है। परन्तु सारा भंडा स्वयं कवि के नाम ने ही फोड़ दिया। अँगरेजी में जल्हण (Jalhan's) लिखा हुआ देखकर आपने उसे 'जालहंस' पढ़ लिया और सारे लेख में जगह-जगह 'जालहंस' की भर-मार कर दी ! स्व० आचार्य चन्द्रधर जी गुलेरी ने उस समय एक मासिकपत्र में इसकी खूब दिल्लगी उड़ाई थी; और लिखा था कि अब देखना है कि लेखक महोदय 'कालहंस' और 'बिलहंस' (वस्तुतः 'कल्हण' और 'बिल्हण') का कब पता लगाते हैं और उनके सम्बन्ध में कौन-कौन सी गवेषणापूर्ण बातें कहते हैं !

एक और सज्जन ने एक अनुवाद किया था। उसके सम्बन्ध में उनका दावा था कि यह मूल फारसी से किया हुआ अनुवाद है। पर सारी कलई वहाँ पहुँचने पर खुल गई थी, जहाँ अनुवादक महोदय ने लिखा था—'उसने खान से बुर्ज उड़ा दिया।' इस एक ही वाक्य से यह सिद्ध हो गया था कि यह फारसी से नहीं, बल्कि अँगरेजी से किया हुआ अनुवाद है, और वह भी बिना समझे-बूझे। अँगरेजी का 'माइन' (Mine) शब्द उस खान के लिए तो प्रयुक्त होता ही है, जिसमें से खनिज द्रव्य खोदकर निकाले जाते हैं; साथ ही उस 'सुरंग' के लिए भी प्रयुक्त होता है जो किसी चीज को उड़ाने के लिए उसके नीचे लगाई जाती है। किले का बुर्ज या और कोई हिस्सा सुरंग लगाकर ही उड़ाया जाता है। 'खान से बुर्ज उड़ा दिया' का तो कोई अर्थ ही नहीं होता।

एक प्रतिष्ठित दैनिक पत्र में पढ़ा था—'स्वदेशी वस्त्रालय के नाम और ढंग पर कपड़े का व्यापार आरम्भ किया।' इस वाक्य का 'ढंग' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है, जो अँगरेजी के 'स्टाइल' (Style) शब्द का बिना समझे-बूझे किया हुआ अनुवाद है। यह ठीक है कि 'स्टाइल' का एक अर्थ 'ढंग' या शैली' भी होता है। परन्तु उसका एक और अर्थ होता है। वह अर्थ है—'किसी व्यक्ति, परिवार या व्यापारिक संस्था आदि का निजी और सर्वमान्य नाम।' अँगरेजी में यह शब्द इस अर्थ में बहुत अधिकता से प्रयुक्त होता है। अँगरेजी के जिस वाक्य का उक्त अनुवाद किया गया था, उसमें 'स्टाइल' शब्द इसी अन्तिम अर्थ में आया था। परन्तु अनुवादक महोदय ने बिना यह तत्त्व समझे 'स्टाइल' की जगह सीधा-सादा 'ढंग' शब्द रख दिया, जिसका इस प्रसंग में कुछ भी अर्थ नहीं होता।

एक बार प्रवास करते समय किसी स्त्री को रेल में मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ था। अँगरेजी समाचारपत्रों में इसका जो समाचार छपा था, उसमें अँगरेजी मुहावरे के अनुसार 'स्टिल चाइल्ड' (Still Child) लिखा था। पर एक अनुवादक ने उसका अनुवाद कर डाला—'शान्त बच्चा पैदा हुआ।' एक और सज्जन ने 'प्लेयिंग आन वीना' का अनुवाद किया था—'वह बीन पर खेल रही थी।' एक सज्जन ने स्त्रियों को 'कोल्ड क्रीम' की जगह मुँह पर

'ठंढी मलाई मलने की सलाह दी थी एक सज्जन ने एक अवसर पर लिखा था—'चौदह हाथ का घोड़ा'। उन्होंने अंगरेजी के 'हैंड' (Hand) शब्द का सीधा-सादा अनुवाद 'हाथ' कर के रख दिया था। उन्हें यह नहीं मालूम था कि 'हैंड' अँगरेजी में चार इंचों की एक नाप होती है; और प्रायः घोड़ों की ऊँचाई नापने में ही उसका प्रयोग होता है। हमारे यहाँ उससे मिलता जुलता 'मुट्ठी' शब्द है। कहते हैं—'यह घोड़ा बारह मुट्ठी का है।' अर्थात् बारह मुट्ठी ऊँचा है। पर अनुवादक जी ने 'चौदह हाथ का घोड़ा' बना डाला था।

अँगरेजी में अनेक शब्दों और पदों आदि का बिना समझे-बूझे अनुवाद करने और शब्द की जगह शब्द रखने की यह प्रवृत्ति हिन्दी में इतनी अधिक है कि इसके कारण हमें अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यज्ञों के सामने लज्जित होना पड़ता है। उदाहरणार्थ—'हंगर स्ट्राइक' (Hunger Strike) के लिए 'भूख हड़ताल' लिखने की प्रथा बहुत दिनों से चली रही है। कोई पूछे कि इस 'भूख हड़ताल' का अर्थ और आशय क्या है, तो शायद इसका कोई उत्तर न मिलेगा। इससे यही सूचित होता है कि न तो हम 'हंगर स्ट्राइक' (Hunger Strike) का ठीक-ठीक आशय ही समझते हैं और न उसके लिए अपने यहाँ के प्रचलित शब्द 'अनशन' से ही परिचित हैं। यही बात 'सिक्योरिटी प्रिजनर' (Security Prisnor) के लिए प्रयुक्त होनेवाले 'हिफाजती कैदी' की है। और बहुत कुछ इसी कोटि में 'ब्लैक आउट' (Black-out) के लिए परम प्रचलित 'चिराग गुल' भी आता है। हमने 'व्हाइट एन्ट्स' (White Ants) के लिए 'सफेद च्यूँटी' का प्रयोग भी देखा है, जिसका वास्तविक अर्थ होना चाहिए—दीमक। एक स्थान पर Coloured races का अनुवाद देखा था—'बे-गोरी जातियाँ।' एक सज्जन ने 'केप आफ गुड होप' (Cape of Good Hope) का अनुवाद किया था—'उत्तमाशा अन्तरीप'। यदि ऐसा ही अनुवाद करना हो तो इससे कहीं अच्छा अनुवाद होगा—'सदाशा अन्तरीप'। 'बैक ग्राउण्ड' (Back-ground) के लिए हम अपने यहाँ के सीधे-सादे शब्द 'भूमिका' को छोड़कर उसका शाब्दिक अनुवाद 'पृष्ठ भूमि' करते हैं। 'ट्रेड यूनियन' (Trade Union) के लिए हम लोग 'व्यापार संघ' का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह नहीं समझते कि यह उस पद का बिलकुल उलटा

अर्थ है। वस्तुतः 'ट्रेड यूनियन' (Trade Union) कारीगरों और मजदूरों आदि का संघ होता है, व्यापारियों या कारखानेदारों का नहीं। कुछ लोग 'होस्टेज' (Hostage) के लिए 'ओल' की जगह 'अमानत' लिखते हैं। अँगरेजी का एक और शब्द है 'सोलिसिटेड' (Solicited) जिसका अनुवाद करने में प्रायः लोग भूल करते हैं। विज्ञापनों के अन्त में लिखा जाता है—'परीक्षा प्रार्थनीय है।' और निमन्त्रण-पत्रों के अन्त में लिखा जाता है—'उपस्थिति प्रार्थनीय है।' 'प्रार्थनीय' का अर्थ है—'प्रार्थना या निवेदन करने के योग्य' जिसकी संगति उक्त वाक्यों में किसी प्रकार नहीं बैठती। यहाँ होना चाहिए—'प्रार्थित है।' इस प्रकार के शब्द गढकर अपने दोहरे अज्ञान का ढिंढोरा पीटने में जितने सिद्ध-हस्त हम हिन्दीवाले हैं, उतने सिद्ध-हस्त कदाचित् ही बँगला, मराठी या गुजरातीवाले हों। हाँ, हम उन अफगानों की बात नहीं कहते जो सिर के बाल काटनेवाले (हज्जाम)को 'सर-तराश' कहते हैं और जिनके यहाँ हज्जामों की दूकानों की तख्तियों पर Head-Cutter लिखा रहता है !

वास्तव में होता यह है कि जब हम कुछ अनुवाद करने बैठते हैं, तब कोई कठिन शब्द या पद सामने आने पर पहले चारों ओर यह देखने के लिए निगाह दौड़ाते हैं कि कहीं इसका कोई किया-कराया अनुवाद मौजूद तो नहीं है। यदि संयोग से वह मिल जाय तो फिर हम यह देखने की आवश्यकता नहीं समझते कि वह अनुवाद ठीक है या गलत। हम यही समझकर उसे अपना लेते हैं कि अमुक सज्जन ने उसका व्यवहार किया है। और फिर जब हम यह देखते हैं कि उसका प्रयोग बड़े बड़े और धक्काड़ लेखक तथा सम्पादक तक करते हैं, तब हम क्यों न उसे अपनावें ? जब हमें कोई ऐसा किया-कराया अनुवाद नहीं मिलता, तब हम मनमाना अनुवाद करके आगे बढ़ते हैं। उसके औचित्य तथा अनौचित्य पर ध्यान देने की न तो हमें फुरसत रहती है और न गरज। इसी अन्धाधुन्ध में अँगरेजी पदों के किये हुए अच्छे अच्छे अनुवाद भी पीछे छूट जाते हैं। 'स्कार्च्ड अर्थ पालिसी' (Scorched-earth policy) का प्रयाग के एक पत्रकार का किया हुआ 'सर्वक्षार नीति' बहुत सुन्दर अनुवाद है। पर इसे हमने बहुत कम स्थानों में प्रचलित पाया है।

हम ऐसे सज्जनों को भी जानते हैं जो लेखक-श्रेणी में बहुत उच्च पद पर बैठकर भी 'थाट' (Thought) का अर्थ 'भाव' और 'फीलिंग' (feeling) का अर्थ 'विचार' बतलाते हैं ! ऐसे उदाहरण देखकर नये लेखक यदि पथ-भ्रष्ट न हों तो क्या हों ? अब यदि ऐसे लेखकों के अनुयायी 'उन्डेड वेनिटी' (Wounded Vanity) का अर्थ 'आहत गर्व' करें और 'डेड लेटर आफिस' (Dead Letter Office) का अनुवाद 'मुर्दाघर' करें तो किसी सीमा तक क्षम्य ही समझे जाने चाहिएँ ।

अँगरेजी में प्रायः पत्रों आदि के नीचे पी० टी० ओ० (P. T. O.) लिखने की प्रथा है। यह Please turn over का संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है 'कृपया पृष्ठ उलटिये ।' पर कुछ लोग इसका हिन्दी अनुवाद करते हैं—'कृपया लौटिये ।' बात यह है कि कुछ क्षेत्रों में 'उलटना' के लिए 'लौटना' शब्द का भी व्यवहार होता है । जैसे—'वह किताब के पन्ने लौट रहा था ।' परन्तु यह प्रयोग नितान्त स्थानिक है और इसलिए त्याज्य है कि इसका अर्थ ही कुछ और हो जाता है । 'लौटना' का अर्थ 'वापस आना' तक ही परिमित रखना चाहिए, 'उलटना' के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए ।

जहाँ हमें सीधा-सादा 'डाकखाना' शब्द अथवा उसका संक्षिप्त रूप 'डा०' लिखना चाहिए, वहाँ भी हम अँगरेजी के पोस्ट आफिस शब्द का संक्षिप्त रूप पो० आ० लिखते हैं । इस प्रकार की भूल की ओर जब एक बार लेखक ने एक समझदार आदमी का ध्यान आकृष्ट किया, तब उन्होंमे चट उत्तर दिया—'वाह साहब ! हम आखिर बी० ए० और एम० ए० भी तो लिखते हैं । इसी प्रकार पो० आ० क्यों न लिखें ?' उस समय उन्हें समझाना पड़ा कि हम बी० ए० या एम० ए० आदि संकेतों का प्रयोग 'बैचलर अव् आर्ट्स्' (Bachelor of Arts) या 'मास्टर अव् आर्ट्स्' (Master of Arts) के लिए नहीं करते, बल्कि उनके उन अँगरेजी संक्षिप्त रूपों की जगह करते हैं जो B. A. और M. A. लिखे जाते हैं । खैरियत हुई कि बात उनकी समझ में आ गई । नहीं तो वे थे झगडालू प्रकृति के । शायद झगड़ बैठते तो अपना पक्ष पुष्ट सिद्ध कर के ही दम लेते !



११

फुटकर बातें

अब तक भाषा के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बतलाई जा चुकी हैं; फिर भी बहुत सी छोटी-मोटी बातें रह ही गई हैं। जैसे—विभक्ति-चिह्न, शब्दों के रूप, और विराम-चिह्न आदि। ये सब बातें यद्यपि देखने में बहुत सामान्य जान पड़ती हैं, पर भाषा की शुद्धता के विचार से इनका बहुत अधिक महत्त्व होता है। इस प्रकरण में हम इसी प्रकार की कुछ फुटकर बातों का विचार करना चाहते हैं। आशा है, इनसे भी लेखकों को भाषा का स्वरूप शुद्ध और स्थिर रखने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

"को"

हिन्दी के विभक्ति-चिह्नों और अव्ययों आदि में जितना दुरुपयोग 'को' का होता है, उतना कदाचित् ही किसी और विभक्ति-चिह्न या अव्यय का होता हो। 'को' के प्रयोग में लोग बहुत ही मुक्त-हस्त और उदार देखे जाते हैं। 'को' नितान्त अनावश्यक तो नहीं है—बहुत से स्थलों पर उसकी विशेष रूप से आवश्यकता होती है—पर अधिकांश लेखक बिना कुछ भी सोचे 'को' का अन्धाधुन्ध प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। यहाँ हम इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें बतलाने से पहले थोड़े से ऐसे उदाहरण दे देना चाहते हैं, जिनमें 'को' बिलकुल जबरदस्ती और व्यर्थ लगाया गया है।

१. प्रजा इस भारी कर को सह न सकेगी।
२. उस पारसल को भेज देने के लिये लिखा गया था।
३. क्या एम० ए० तक उन्होंने इसी भाषा को पढ़ाया है ?
४. सैनिक जब अपने अफसर को देखता है, तब बन्दूक को समर्पण करता है।
५. हमें बहुत से क्लेशों को विवश होकर सहना पड़ता है।

६. यह कविता कई एक भावों को प्रकट करती है।
७. इसका आनन्द पाठक उसके विवरण को पढ़कर ले सकते हैं।
८. इंगलैण्ड की जनता क्राम्वेल के नाम को घृणा के साथ (!) लेती थी।
९. हैजे के रोगी को इसी वस्तु को जल में घोलकर पिलावें।
१०. भयंकर झोंकों को सहकर भी उसने अपने स्थान को न छोड़ा।
११. आपने जो प्रतिज्ञा की थी. उसको आपने नहीं निबाहा।
१२. उनके इन वचनों को सुनते ही वह सन्न हो गया।
१३. इस कार्य को करते हुए मुझे कई महीने हो गये।
१४, फल को खूब पका हुआ होना चाहिए।
१५. इस ग्रन्थ को कई हकीमों ने बनाया था।
१६. उन्होंने इस सटीक ग्रन्थ के अनुवाद को लिखा। आदि।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी उदाहरणों में 'को' केवल फालतू ही नहीं है, बल्कि उससे वाक्यों में बहुत कुछ भद्दापन भी आ गया है। इन सभी स्थलों में से यदि 'को' निकाल दिया जाय तो वाक्य बहुत कुछ हलके और सुन्दर हो जायँ। यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो इस तरह के कुछ ऐसे वाक्य भी मिलेंगे, जिनसे नये पाठक और विशेषतः अन्य भाषा-भाषी बहुत-कुछ भ्रम में पड़ सकते हैं। जैसे—'हम प्राचीन साहित्य को समझावें।' मानों प्राचीन साहित्य कोई जानदार चीज है और हमारी बात नहीं समझता; हम चाहते हैं कि उसे समझा-बुझाकर ठिकाने पर लावें।

यह तो हुआ 'को' के अनावश्यक प्रयोग का प्रकार। इसके सिवा कई प्रकार से उसका अशुद्ध प्रयोग भी होता है। कभी कभी कुछ लोग 'पर', 'का', 'से', 'के लिए' और 'के हाथ' आदि के स्थान पर भी भूल से 'को' का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—

१ वह इस व्याकरण की असलियत हिन्दी जगत को (पर) प्रकट कर दें।
२ वह प्रत्येक प्रश्न को (का) वैज्ञानिक ढंग पर विश्लेषण करने का पक्षपाती था।
३. इनको (से) इन्कार कर वह स्वराज्य लेगा ?

४. उनको (की) समझौते की इच्छा नहीं थी।

५. कवि 'प्रसाद' का अध्ययन करनेवालों को (के लिए) यह उत्तम सहायक ग्रन्थ है।

६. सरकारी एजेन्टों को (के हाथ) तुम अपना माल मत बेचो।

७. स्त्री को 'स्त्री' संज्ञा देकर पुरुष को (का) छुटकारा नहीं है।

कुछ अवसरों पर 'को' का यह रोग लेखकों का एक और प्रकार का अज्ञान प्रकट करता है और उनसे लिंग सम्बन्धी भूलें कराता है। जैसे—

१. उन्होंने भवन की कार्रवाई को देखी।

२. एक अटैची में विस्फोटक पदार्थ भरकर उसको फुहरर के नीचे रख दी।

३. पोथी को जहाँ से ली थी, वहीं रख दी।

४. अतः इस पुस्तक को मैंने यों ही रहने दी।

५. मैंने इसको तैयार कर दी।

जरा सा ध्यान रखने से ही भाषा इस प्रकार के भद्देपन और अशुद्धि से बचाई जा सकती है। एक और क्षेत्र है जिसमें 'को' का निरर्थक प्रयोग बचाया जा सकता है। जैसे उसको, हमको और तुमको आदि की जगह उसे, हमें और तुम्हें लिखकर भाषा पर से 'को' का बोझ कम किया जा सकता है।

फिर भी कुछ स्थानों पर 'को' का प्रयोग आवश्यक होता है। जैसे— 'भगवान रामचन्द्र को समुद्र पर पुल बाँधना पड़ा था।' 'महाराज के स्वर्गवास पर राज्य उनके छोटे भाई को मिला था।' 'सरकार को विवश होकर वह कानून बनाना पड़ा था।' 'पिता को अपने सब पुत्रों पर समान रूप से प्रेम रखना चाहिए।' आदि। ये सब उदाहरण ऐसे वाक्यों के हैं, जिनमें बिना 'को' का प्रयोग किये काम चल ही नहीं सकता; और इसी लिए ये वाक्य भद्दे भी नहीं मालूम होते। यदि आप यह जानना चाहते हों कि कहाँ 'को' का प्रयोग होना चाहिए और कहाँ नहीं होना चाहिए, तो आप अपना वाक्य दोनों ही रूपों में बनाकर देखें। यदि आपका काम बिना 'को' के चल जाय, तो आप समझ लीजिए कि इसमें 'को' निरर्थक होगा। और यदि आप ऐसे वाक्य में 'को' का प्रयोग करेंगे, जिसमें बिना उसके काम चल सकता हो, तो अवश्य ही वह वाक्य भद्दा होगा।

कुछ स्थलों में 'को' के प्रयोग के संबंध में ठीक सिद्धान्त स्थिर करने में कुछ बातें बाधक भी होती हैं। उदाहरणार्थ—हम यह तो कह सकते हैं—'वह अपनी स्त्री को (या अपने भाई को या अपने पिता को) अपने साथ लाये हैं।' और ऐसे वाक्यों में कुछ भी भद्दापन न होगा। पर यदि हम कहें—'वह अपनी गाड़ी को साथ लाये हैं।' या 'अपनी पुस्तक को साथ लाये हैं।' तो अवश्य भद्दा जान पड़ेगा। हो सकता है कि इसके मूल में वही बेजान या जड़ चीजोंवाला तत्त्व हो, जिसके कारण कुछ भाषाओं के व्याकरणों में नपुंसक लिंग के लिए भी स्थान रखा जाता है। फिर भी संदेह के कुछ स्थल रह ही जाते हैं। जैसे—'मैं अपने नौकर को आपके पास भेज दूँगा।' और 'मैं अपना नौकर आपके पास भेज दूँगा।' अधिक सूक्ष्म विचार करने पर ऐसा जान पड़ता है कि उक्त दोनों वाक्यों में कुछ अन्तर है। पहले वाक्य में किसी निर्दिष्ट नौकर की ओर संकेत हो सकता है; और दूसरा वाक्य इस बात का सूचक हो सकता है कि मैं अपने कई नौकरों में से कोई एक नौकर आपके पास भेज दूँगा। 'को' का इस प्रकार का प्रयोग भी ऐसा है, जिस पर हिन्दी व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वानों को, अन्यान्य अनेक विचारणीय विषयों के साथ, पूरा-पूरा विचार करना चाहिए। ये सूक्ष्मताएँ ऐसी हैं, जिन पर सब लोग और विशेषतः विद्यार्थी विचार नहीं कर सकते। उनके लिये तो वही कसौटी यथेष्ट है, जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है; और उसी से उनका बहुत कुछ काम चल सकता है।

"का" और "के"

जिस प्रकार लोग 'को' का व्यर्थ और अनावश्यक प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी 'का' (या के) का भी प्रयोग करते हैं। बोल-चाल में तो लोग कह ही जाते हैं—'यह लड़का महा का पाजी है।' पर समाचार-पत्रों में भी लोग लिख जाते हैं—'वहाँ घमासान की लड़ाई हो रही है।' कुछ लोग 'से' की जगह भी 'का' लिखते हैं। जैसे—'सभ्यता का दाढ़ी का क्या सम्बन्ध है?' इसी प्रकार कुछ लोग अँगरेजी के प्रभाव के कारण लिखते हैं—'बनारस का शहर'। कुछ लोग 'के' का भी इसी प्रकार निरर्थक प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

१. इस बात के कहने में किसी को संकोच न होगा।

२. वह चेकों के लेने में लगा रहा।

३. वह वहाँ से सब चीजें निकाल करके ले गया।

४. उनसे जाकर के सब हाल कह देना। आदि।

कभी-कभी लोग 'को' की जगह भी भूल से 'के' का प्रयोग कर जाते हैं। जैसे—'उनकी चाची के लड़की हुई है।' 'उनके चाचा के (घर या यहाँ) लड़की हुई है।' तो ठीक है; पर 'चाची के लड़की हुई है।' ठीक नहीं है। होना चाहिए—'चाची को लड़की हुई है।'

ऊपर जो बातें 'को' के सम्बन्ध में कही गई हैं, प्रायः वही बातें इस तरह के 'का' और 'के' के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिएँ। फालतू 'का' या 'के' का प्रयोग भी उसी प्रकार वर्जित है, जिस प्रकार 'को' का।

"के अन्दर"

'को' की ही तरह 'के अन्दर' का भी हिन्दी में प्रायः बिलकुल निरर्थक और भद्दा प्रयोग होता है। जैसे—'हम इस बेड़े के अन्दर खड़े होकर देखते हैं।' 'वे बन्धनों के अन्दर रहकर दबे हैं।' 'धर्मशास्त्रों के अन्दर बहुत से तत्त्व भरे पड़े हैं।' 'औषधों के अन्दर बहुत से गुण होते हैं।' 'हमारी आत्मा के अन्दर बहुत बड़ा बल है।' 'अज्ञात रहस्य के अन्दर प्रवेश।' 'सीधी-सादी जनता के अन्दर यह भावना है।' आदि। हिन्दी में यह प्रयोग पंजाबियों और विशेषत; आर्य-समाजियों के द्वारा आया है। परन्तु अब इसका प्रचार इतना बढ़ गया है कि संयुक्त प्रांत के पत्रों में भी शीर्षक निकलते हैं—'आगाखाँ के महल के अन्दर बात-चीत।' 'रावलपिंडी जिले के भीतर बाढ़।' आदि। इन सभी अवसरों पर 'के अन्दर' (या भीतर) की जगह सीधे-सादे 'में' से काम चल सकता है और उसी का प्रयोग होना चाहिए। कुछ अवसरों पर यह 'के अन्दर' भ्रामक भी हो सकता है। जैसे—'तालाब के अन्दर छोटा सा शिवालय था।' लेखक का उद्देश्य तो केवल यह बतलाना था कि तालाब में अर्थात् उसके मध्य भाग में एक शिवालय था, जिसे किनारे पर से सब लोग देख सकते थे। परन्तु इसका यह आशय भी हो सकता है कि तालाब सूख जाने पर यों ही अथवा

कुछ खुदाई आदि होने पर, पता चला कि उसके अन्दर एक पुराना शिवालय भी था। यदि वास्तव में हमारा संकेत इसी अन्तिम स्थिति के सम्बन्ध में हो तो 'के अन्दर' का प्रयोग केवल शुद्ध ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है। अन्यथा यह कहना बिलकुल भद्दा है—'हमारी किताब के अन्दर बहुत सी जानने योग्य बातें हैं।'

"के ऊपर" और "पर"

'के ऊपर' के प्रयोग में भी लोग प्रायः भूल करते हैं। जैसे—

१. यह प्रश्न हमारे ऊपर नहीं, बल्कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर निर्भर करता है। (इसमें 'हमारे ऊपर' की जगह 'हम पर' होना चाहिए। 'निर्भर' के बाद 'करता' भी निरर्थक है।)
२. वह अपने गुरु के ऊपर भक्ति रखते थे। ('गुरु पर' होना चाहिए।)
३. इस पुस्तक में शिव के ऊपर भक्ति करने का उपदेश है। ('शिव की भक्ति' होना चाहिए।)
४. इसका उत्तरदायित्व हम सब लोगों के ऊपर है। ('सब लोगों पर है' होना चाहिए।)
५. उनके ऊपर यह अभियोग लगाया गया है। ('उन पर' होगा)
६. सब लोगों ने मिलकर अर्थ-बिल के ऊपर सरकार को हराया था। (केवल पर होगा।)
७. तुम पैंतीस-चालिस रुपए के ऊपर अलग घर लेकर रहो। (पर)

इसी प्रकार 'पर' का भी प्रायः बे-मौके और भद्दा प्रयोग होता है। यहाँ इसके जो उदाहरण दिये जाते हैं, उनमें से आरम्भिक चार उदाहरण एक ही दैनिक पत्र के एक ही अंक से लिये गये हैं।

१. मैं यह पत्र निश्चय से अधिक लंबा हो जाने पर क्षमा-प्रार्थी हूँ।
२. अब मैं फिर आपके २५ फरवरी के पत्र पर आता हूँ।
३. गाँव पर सर्पों का प्रकोप।
४. उन पर इसके अलावा और क्या दोष है?
५. गली बहुत गन्दी थी और उस पर कूड़े का ढेर लगा था। ('पर' की जगह 'में' होना चाहिए।)

६. भारत के प्रश्न पर (में) रूस की दिलचस्पी।

७. वह तुरन्त स्टेशन पर (को) भागा।

"में"

बहुत ही साधारण विभक्ति 'में' के भी प्रायः अशुद्ध और फालतू प्रयोग देखने में आते हैं। बँगलावाले 'निज' के स्थान पर 'निजे' बोलते हैं, इसी लिए उनके सम्पर्क में रहनेवाले हिन्दी-भाषी प्रायः 'निज में' बोला करते हैं। पर अब कुछ लोग लिखने में भी यह 'निज में' लाने लगे हैं। जैसे—'वह निज में वहाँ नहीं जाना चाहता था।' यह बिलकुल अशुद्ध प्रयोग है। 'निज में' के स्थान पर 'स्वयं' या 'आप' होना चाहिए। 'परस्पर' का अर्थ होता है—'आपस में।' पर कभी-कभी लोग 'परस्पर' के साथ भी 'में' लगा देते हैं। ऐसा करना भी ठीक नहीं है। जहाँ 'में' की जरूरत नहीं होती, वहाँ उसे कुछ लोग जबरदस्ती ला बैठाते हैं। जैसे—'सड़क में भारी भीड़ लगी थी।' 'उस स्थान में पहले से कई आदमी मौजूद थे।' 'वह गाड़ी में कालिज जाती है।' आदि। इनमें 'में' की जगह 'पर' होना चाहिए। इसके विपरीत जहाँ 'में' की आवश्यकता होती है, वहाँ कुछ लोग उसे छोड़कर उसके स्थान पर और और शब्द रख देते हैं। जैसे—'वह अपने साथ कुछ भी गड़बड़ी नहीं देखता था।' यहाँ 'साथ' की जगह 'में' होना चाहिए।

"केवल", "मात्र", "भर" और "ही"

'केवल', 'मात्र', और 'भर' बहुत-कुछ समानार्थक शब्द हैं; और 'ही' भी प्रायः वही भाव सूचित करता है, जो 'केवल' अथवा 'मात्र' से सूचित होता है। जैसे, हम कह सकते हैं—'हम आज केवल दूध पीकर रहेंगे।' या—'हम आज दूध मात्र पीकर रहेंगे'। या 'हम आज दूध ही पीकर रहेंगे।' परन्तु बहुत से लोग यह बात न समझकर इन तीनों शब्दों में से कोई दो शब्द साथ ही साथ ला रखते हैं। जैसे—'शब्द केवल संकेत मात्र होते हैं।' 'केवल कहने मात्र से कुछ नहीं होता।' 'ये बातें केवल दिखावा भर थीं।' 'यह केवल उत्तरी ध्रुव में ही दिखाई देता है।' 'इन दोनों में केवल यही अंतर है।' 'यह सब तो केवल आप पर ही निर्भर है।' 'समस्त प्रजा मात्र से सहायता ली जायगी।' 'सिर्फ वही लोग वहाँ जा सकेंगे।' आदि। 'केवल', 'मात्र' और

'ही' का प्रयोग किसी व्यक्ति या बात पर जोर देने के लिए होता है। अगर कुछ लोग समझते हों कि इस तरह के दोहरे प्रयोगों से वाक्य में दोहरा जोर आ जायगा, तो यह उनकी भूल है। अधिकांश लेखक जोर पहुँचानेवाले दोहरे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे उनका अज्ञान ही सूचित होता है।

'ही' का प्रयोग जोर देने के लिए होता है। कुछ लोग 'अवश्य' सरीखे शब्दों के साथ भी 'ही' जोड़कर मानों उस पर उसी तरह का दोहरा जोर पहुँचाते हैं, जिस तरह 'केवल' और 'मात्र' के साथ 'ही' लिखकर। जैसे—'हम तो अवश्य ही वहाँ जायँगे।' परन्तु यह भी वैसा ही दूषित है। 'केवल' और 'अवश्य' से काफी जोर पहुँचता है, अतः उसके साथ 'ही' जोड़ना व्यर्थ है। कुछ लोग ऐसे अवसरों पर भी 'ही' का प्रयोग करते हैं, जिनमें वह अनावश्यक ही नहीं होता, बल्कि भाषा में भद्दापन भी लाता है। जैसे—'वे सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ही उत्पन्न हुए थे।' बिलकुल साधारण कथन की अवस्था में इस वाक्य में का 'ही' नितांत निरर्थक है। हाँ, यदि विवाद का कोई प्रसंग हो और यह सिद्ध करना हो कि 'वे' सोलहवीं शताब्दी के मध्य या अन्त में नहीं जनमे थे, तो बात दूसरी है।

जोर देने के अतिरिक्त कहीं-कहीं 'ही' हीनता या उपेक्षा आदि का भी सूचक होता है; और कहीं-कहीं वह जोर कम करने के लिए भी लाया जाता है। जैसे—'चार ही रुपये न!' 'अब वह मिल ही जाय तो क्या हो जायगा?' वास्तव में इन उदाहरणों में भी 'चार' और 'मिलने' पर जोर तो अवश्य दिया गया है, पर प्रसंग और संगति के अनुसार 'ही' इनमें हीनता और उपेक्षा आदि का सूचक हो गया है।

कहीं-कहीं 'ही' के साथ 'पर' भी विवक्षित होता है। जैसे—'यह काम तो होता ही है, इसके साथ एक और काम हो जाता है।' इसमें दूसरे वाक्यांश के पहले 'पर' की भी आवश्यकता है। यद्यपि अधिकांश लेखक ऐसे अवसरों पर 'पर' का प्रयोग नहीं करते, परन्तु भाषा का प्रवाह ठीक रखने के लिए 'पर' लाना ही ज्यादा अच्छा है।

"भी"

'का', 'को', और 'ही' आदि की तरह हिन्दी में 'भी' की भी बहुत

दुर्दशा देखने में आती है। अनेक अवसरों पर उसका अनावश्यक रूप से और व्यर्थ ही प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ—किसी भी, कोई भी, कहाँ भी, कहीं भी, किन्हीं भी, जो भी, जितना भी, कितना भी, आदि। खाली 'किसी' 'कोई' और 'कहीं' आदि से ही ठीक अर्थ निकलता है; पर जबरदस्ती उसके साथ 'भी' लगाकर वाक्य में भद्दापन बढ़ाया जाता है। 'किसी भी आदमी को भेज दो।' या 'वह कहीं भी नहीं गया था।' आदि लिखने और बोलने की अपेक्षा 'किसी आदमी को भेज दो।' या 'वह कहीं नहीं गया था।' आदि लिखना ही शुद्ध और प्रशस्त है। इसी प्रकार 'जितना भी' और 'कितना भी' आदि की जगह 'चाहे जितना' और 'कितना ही' आदि का प्रयोग ठीक है। वाक्य में 'भी' का बे-ठिकाने प्रयोग भी बहुत खटकता है। जैसे—'वे भी लोग हैं, जिन्होंने यह योजना तैयार की है।' होना चाहिए—'वे लोग भी...।' भाषा में जोर लाने की धुन उलटे उसमें भद्दापन ले आती है। जैसे—

१. मैं यह हरगिज भी नहीं समझ सकता।
२. इस प्रकार की इच्छा जब भी मैंने उन पर प्रकट की...।
३. आज उसके कानों में उसकी आवाज बिलकुल भी न पड़ी।
४. वह बिलकुल भी बात करना नहीं चाहती थी।
५. इसमें तीव्र मध्यम बिलकुल भी न लगना चाहिए।
६. चाहे जैसे भी हो, तुम वहाँ जाओ।
७. प्रस्ताव की व्याख्या के सिवा भी बातों का उत्तर दिया गया।
८. चाहे कैसे भी यह काम हो जाय। आदि।

'भी' लगाने की यह प्रवृत्ति बहुत बुरी है। अन्यान्य अनावश्यक शब्दों की तरह 'भी' से भी जहाँ तक हो सके, बचना चाहिए। फालतू शब्दों का प्रयोग फालतू आदमियों को ही शोभा देता है, समझदारों को नहीं।

हिज्जे

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी में हिज्जे का कोई स्थान नहीं है। हिज्जे का स्थान तो उन भाषाओं में होता है, जिनमें लिखा कुछ जाता है, और पढ़ा कुछ। जैसे—लिखा जाय 'बालकुल' और पढ़ा जाय 'बिलकुल'; या लिखा जाय 'हाल्फ़' और पढ़ा जाय 'हाफ़'। जिन

लिपियों में एक ही उच्चारण के लिए कई अक्षर हों (जैसे—उर्दू में 'स' के लिए से, सीन और साद) उनमें भी हिज्जे की आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ ये सब बातें नहीं हैं। फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके हिज्जे में धाँधली दिखाई देती है। अनेक परम प्रचलित शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं हैं। 'लिए' और 'चाहिए' शब्द भी एक निश्चित रूप में नहीं लिखे जाते। कोई 'लिए' और 'चाहिए' लिखता है और कोई 'लिये' और 'चाहिये।' करावे, कराये और करावै, छूएंगे, छुवेंगे, छुएंगे, छूवेंगे, पाये, पाए, पावे, पावै, जायगा, जावेगा, जायेगा, जाएगा आदि सभी रूप देखने में आते हैं। यह बात नहीं है कि एक लेखक सदा कोई एक ही रूप लिखता हो और दूसरा लेखक कोई दूसरा रुप ठीक मानता हो। कोई 'लिए गए' लिखता है, कोई 'लिये गये' और बहुत से लोग लिखते हैं—'लिए गये' या 'लिये गए।' बहुत से लेखक अपने एक ही लेख में एक ही शब्द कई तरह से लिखते हैं। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि हिन्दी में हिज्जे की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है। और यदि है भी तो या तो सब लोग वह प्रणाली जानते ही नहीं, और या उसे मानते ही नहीं। हिन्दीवालों के लिए यह बहुत लज्जा की बात है। हिन्दी की एक प्रशस्त प्रणाली होनी चाहिए और सब लोगों को उसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए। एक बड़ी सीमा तक वह प्रणाली निश्चित भी है। परन्तु वह आस-पास की कई गन्दी प्रणालियों से इस प्रकार घिर गई है कि नये लेखक उसे पहचान ही नहीं पाते; और जिस प्रणाली में पड़ जाते हैं, उसी में बह चलते हैं। फिर इस प्रणाली से उस प्रणाली में और उस प्रणाली से इस प्रणाली में उन्हें प्रवाह ही ले जाता है। वे स्वयं अपने लिए कोई प्रणाली निश्चित नहीं कर सकते।

कोई 'आई' लिखता है तो कोई 'आयी'। (अब इस शाखा के लोग कम रह गये हैं।) कोई 'कुँअर' लिखता है तो कोई 'कुँवर'; और कोई 'हलुआ' खाता है तो कोई 'हलुवा'। कोई 'गुंजाइश' निकालता है तो कोइ 'गुंजायश'; कोई 'सोसाइटी' ढूँढ़ता है तो कोई 'सोसायटी'। कोई 'घबराता' है तो कोई 'घबड़ाता', कोई 'पाउन्ड' माँगता है तो कोई 'पौंड'। कोई 'अंगुली' दिखाता है तो कोई 'उँगली'। कोई 'रियायत' चाहता है तो कोई 'रिआयत'। कोई 'रेडियो' सुनता है तो कोई 'रेडिओ' पर बोलता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं

जो 'कुछ' और 'एक' को मिलाकर 'कुछेक' या 'हर' और 'एक' को मिलाकर 'हरेक' लिखते हैं। माँ-बाप जिनका नाम 'राम-इकबाल' रखते हैं, वे संस्कृत की छाया में पड़कर 'रामेकबाल' बन जाते हैं। और जो 'बख्शी' होते हैं, वे मराठी की छाया में पड़कर 'बक्षी' बन जाते हैं। हम अपने संख्यावाचक शब्दों के रूप भी स्थिर नहीं कर सके हैं। सत्रह, सत्तरह, इकीस, इक्किस, एक्कीस, चालिस, चालीस आदि सभी रूप देखने में आते हैं। यदि ऐसे लापरवाह लोग संस्कृत शब्दों की दुर्दशा करें तो आश्चर्य ही क्या है! किसी न किसी प्रकार लेखकों में अग्रगण्य बन जानेवाले लोग पैत्रिक, स्मृद्ध, व्यंग, वादाविवाद, सुखदाई, स्थाई, ईर्षा, नर्क और रचेता (पैतृक, समृद्ध, व्यंग्य, वाद-विवाद, सुखदायी, स्थायी, ईर्ष्या, नरक और रचयिता) लिखते हैं। 'ब्रह्म' को 'ब्रम्ह' और 'चिह्न' को 'चिन्ह' लिखनेवाले लोगों की भी कमी नहीं है। 'सृजन' को 'सर्जन', 'स्रष्टा' को 'सृष्टा' और 'द्रष्टा' को 'दृष्टा' लिखनेवाले भी बहुत-से लोग हैं। 'प्रतारण' या 'प्रतारणा' तो ठीक है, पर 'प्रताड़ना' कहाँ का शब्द है? कुछ लोग 'सौदामनी' को 'सौदामिनी' बना देते हैं। 'जाग्रति' और 'कुतूहल' सरीखे शब्दों के तो कई कई रूप देखने में आते हैं। अधिकतर लोग 'जागृति' और 'कौतूहल' लिखते हैं। 'वापिस' और 'फिजूल' लिखनेवाले तो बहुत से लोग हैं ही; कुछ लोग 'गिरिस्ती' भी लिखते हैं।

हिन्दी में एक वह भी समय था, जब 'स्टेशन' को 'ष्टेशन' और 'कनस्टर' को 'कनष्टर' लिखने की प्रथा थी। उस समय के लोग कहते थे कि संस्कृत व्याकरण के नियमों के अनुसार 'ट' के साथ दन्त्य 'स' नहीं, बल्कि मूर्द्धन्य 'ष' का ही संयोग होना चाहिए। वे लोग तो चले गये, पर उनके कुछ उत्तराधिकारी अब तक 'बृटिश' और 'क्रिमिनल' लिखते हैं। बहुत-से लोग दूसरी भाषाओं के शब्द ऐसे ढंग से लिखना चाहते हैं कि उनका ठीक वही उच्चारण हो सके जो मूल भाषा में है; और कुछ लोग ऐसे शब्दों को कुछ तोड़-मरोड़कर अपनी भाषा में लाने का प्रयत्न करते हुए उन्हें तरह तरह के रूप देते हैं। हिन्दी का सीधी-सादा शब्द है—'फुहारा' जो 'फुहार' से बना है। हमारे ही देश के लोगों ने इसे अरबी जामा पहनाकर 'फौवारः' बना दिया है। इसी लिए कोई तो 'फौव्वारा' लिखता है, और कोई फौहारा। शायद कुछ

लोग 'फुआरा' भी लिखते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का यह फल है कि कहीं लिखा रहता है—'पटरि से चलौ।' और कहीं—'शुद्ध घी बिक्ता है।'

अनुस्वार और चन्द्र विन्दु का ध्यान रखना भी बहुत आवश्यक है। एक सज्जन ने एक बार बिना समझे-बूझे एक शब्द के साथ व्यर्थ ही चन्द्र विन्दु बढ़ाकर अर्थ का अनर्थ कर दिया था। उन्हें लिखना चाहिए था—'कटीली आँखें'। पर वे लिख गये—'कँटीली आँखें'। आँखें 'कटीली' ही होती हैं, 'कँटीली' तो झाड़ियाँ हुआ करती हैं। 'कटीला' का अर्थ है—'काट करनेवाला' और 'कँटीला' का अर्थ है—'काँटेदार'। चले तो आँखों की तारीफ करने, पर उलटे कर गये उनकी निन्दा या उपहास! ऐसे ही लोग 'घोटना' और 'घोंटना' में कोई अन्तर नहीं समझते। 'खाँसना' आदि शब्द प्रायः लोग अनुस्वार से ही लिख चलते हैं; और कुछ लोग 'ढंग' को 'ढँग' भी लिख जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'में' 'हैं' और 'क्यों' आदि शब्दों में भी चन्द्र विन्दु ही होना चाहिए। परन्तु यह तब तक सरलता से नहीं हो सकता, जब तक हमारी लिपि में ही आमूल सुधार न हो। कुछ लोगों ने ऐसे नये टाइप अवश्य ढाले हैं जिनमें ऐसे अक्षरों पर अनुस्वार की जगह चन्द्र विन्दु दिया है। पर कठिनता यह है कि ऐसे टाइप बहुत जल्दी टूट जाते हैं और अक्षर प्रायः फिर ज्यों के त्यों हो जाते हैं। कभी कभी उनमें का अनुस्वार तो उड़ जाता है और खाली अर्द्ध-चन्द्र रह जाता है। अतः ऐसे अवसरों को छोड़कर बाकी सभी अवसरों पर अनुस्वार और चन्द्र विन्दु के भेद का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

आज-कल एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है जो बहुत कुछ विवादास्पद है। हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग कुछ बढ़ रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि हमें विदेशी भाषाओं के शब्दों के शुद्ध रूप देने चाहिएँ और इसी लिए 'गरूर' और 'गलती' आदि न लिखकर 'ग़रूर' और 'ग़लती' आदि लिखना चाहिए। अर्थात् ऐसे शब्दों में विशिष्ट अक्षरों के नीचे विन्दी अवश्य लगानी चाहिए। परन्तु यदि इसी तर्क के आधार पर हम कुछ और आगे बढ़ें तो हमें 'कमीना' और 'पशमीना' आदि न लिखकर

'कमीनः' और 'पश्मीनः' आदि लिखना पड़ेगा। इसी लिए अधिकांश लोग विदेशी शब्दों में विशिष्ट अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाने के विरोधी हैं। हमारी समझ में भी यही मत ठीक है। हर जगह अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाना मानों एक नई तरह की गुलामी में फँसना है। हाँ यदि कुछ विशेष अवसरों पर हमें किसी शब्द का विशुद्ध रूप दिखलाना ही अभीष्ट हो, तो अवश्य अक्षरों के नीचे बिन्दी लगानी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोश में शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाने की आवश्यकता हो तो अवश्य ही हमें वहाँ उसका शुद्ध रूप देना पड़ेगा; और वह शुद्ध रूप दिखलाने के लिए हमें आवश्यकता के अनुसार अक्षरों के नीचे बिन्दी भी लगानी पड़ेगी और उनके आगे विसर्ग भी रखना पड़ेगा। और नहीं तो साधारण अवस्था में अक्षरों के नीचे बिन्दी लगाना लेख और छापे दोनों की कठिनाइयाँ बढ़ाने के सिवा और कुछ नहीं है। यहाँ हमें भाषा के इस तत्त्व का भी ध्यान रखना चाहिए कि दूसरों से जो शब्द ग्रहण किये जाते हैं, वे सदा ज्यों के त्यों नहीं लिये जाते; और वे तभी हमारे होते हैं, जब हम उन्हें अपने साँचे में ढाल लेते हैं।

जिस भाषा में शब्द लिखने के रूप तक स्थिर न हों, जिसमें उनके हिज्जे तक का ठीक-ठिकाना न हो, वह भाषा कभी दूसरी उन्नत भाषाओं के सामने सिर ऊँचा करके खड़ी नहीं हो सकती। हमें सोचना चाहिए कि यदि अन्य भाषा-भाषी हमारी ये त्रुटियाँ देखेंगे तो हमें कितना उपहास्य समझेंगे। जिस प्रकार हमारी भाषा का स्वरूप निश्चित होना आवश्यक है, उसी प्रकार शब्दों के रूप भी स्थिर होना आवश्यक है। इस प्रकार का अनिश्चय और अस्थिरता एक ओर तो हमें दूसरों के सामने हीन सिद्ध करता है; और दूसरी ओर हमारे वैयाकरणों और कोषकारों के मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित करती है। अतः यह आवश्यक है कि हम अपने लिए एक प्रशस्त प्रणाली निश्चित करें और भाषा को विकृत होने से बचावें।

विराम-चिह्न

विराम-चिह्न हमारे लिए नई चीज हैं। वे पाश्चात्य साहित्य की देन हैं। हमारे यहाँ तो केवल पूर्ण विराम था। संस्कृत भाषा का स्वरूप और व्याकरण ही कुछ ऐसा था कि उसमें विशेष विराम-चिह्नों की आवश्यकता नहीं होती थी

पर हिन्दी का स्वरूप और गठन उससे बहुत कुछ भिन्न है, इसी लिए हिन्दी में अपेक्षाकृत अधिक विराम-चिह्नों की आवश्यकता होती है। हिन्दी में अब भी कुछ ऐसे सज्जन हैं जो संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने और संस्कृत के प्रभाव में रहने के कारण ही हिन्दी में विराम-चिह्नों की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझते। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी में विराम-चिह्नों की अवश्य आवश्यकता है और बहुत बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी में विराम-चिह्नों की चर्चा भी बहुम कम हुई है। हिन्दी के कुछ व्याकरणों में इस विषय की थोड़ी-बहुत चर्चा मिलती है। कुछ दिन पहले प्रयाग के लेखक संघ की ओर से 'लेखक' नाम का जो मासिक पत्र निकलता था, उसमें इस विषय के कुछ लेख प्रकाशित हुए थे, जो बाद में एक छोटी पुस्तिका के रूप में भी छप गये थे। परन्तु वह पुस्तिका भी कई दृष्टियों से पूरी नहीं है। वह इस विषय के अँगरेजी ग्रन्थों के आधार पर तो लिखी ही गई है, उसमें अँगरेजी लेखन-शैली का भी आवश्यकता से अधिक अनुकरण किया गया है। स्वयं अपनी भाषा की शैली और स्वरूप का उसमें बहुत कम ध्यान रखा गया है। यहाँ हमारे पास इस विषय का विशेष विवेचन करने के लिए स्थान नहीं है। फिर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि भाषा के इस अंग का भी विशेष रूप से विचार होना चाहिए और विराम-चिह्नों के ठीक ठीक प्रयोग करने के नियम निर्धारित होने चाहिएँ। यहाँ हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि कुछ विराम-चिह्नों की कहाँ और क्यों आवश्यकता है और उनका व्यवहार किस प्रकार होना चाहिए।

एक कहानी है कि एक बार एक सिपाही का घोड़ा भागा। वह भी उसके पीछे चिल्लाता हुआ दौड़ा—'पकड़ो, मत जाने दो।' रास्ते में एक लड़का खड़ा सुन रहा था। उसने 'हो हो' करके, शोर मचाकर और तालियाँ बजाकर उस घोड़े को भड़का दिया, जिससे वह और भी तेजी से भागकर दूर निकल गया। इतने में वह सिपाही आ पहुँचा। उसने पूछा—'तुमने मेरे घोड़े को पकड़ा क्यों नहीं? और उसे भगा क्यों दिया?' लड़के ने कहा—'तुम्हीं तो कह रहे थे—'पकड़ो मत, जाने दो।'

बोलने और लिखने में कुछ विशेष कारणों से कहीं न कहीं विराम आता ही है। यदि उक्त वाक्य में अल्प विराम 'पकड़ो' के बाद हो तो उसका अर्थ

कुछ और होगा; और यदि 'मत' के बाद हो तो उसका अर्थ कुछ और होगा। तात्पर्य यह कि वाक्यों में विरामों का विशेष महत्त्व होता है और उनके चिह्नों का बहुत ध्यानपूर्वक और सतर्क होकर व्यवहार करना चाहिए।

पहले एक और प्रसंग में मैना (पक्षी) की एक पहेली आ चुकी है, जिसमें एक पद है—'उसके सिर पर पाँव।' यदि इसका वास्तविक और संगत अर्थ लिखकर सूचित करना हो तो अवश्य ही उसे इस रूप में लिखना होगा—'उसके सिर, पर, पाँव।' नहीं तो लोग उसका वही अर्थ (सिर के ऊपर पाँव-वाला) लगावेंगे, जो बूझनेवालों को धोखे में डालने के लिए रखा गया है।

बहुत दिन हुए, किसी अँगरेजी अखबार में पढ़ा था कि एक बार दक्षिण अमेरिका की किसी रियासत को एक कानून में अल्प-विराम न लगने के कारण ही करोड़ों रुपयों की हानि उठानी पड़ी थी। उस राज्य ने देश में आनेवाले कुछ पदार्थों पर आयात कर लगाया था। उनमें फल और वृक्ष आदि भी थे। परन्तु फल और वृक्ष के बीच में भूल से अल्प-विराम न लग सका था। फल यह हुआ कि आयात कर कई वर्षों तक केवल फलद वृक्षों पर लगता रहा, स्वयं फलों पर नहीं लगता था। कई बरस बाद जब इस भूल का पता चला, तब हिसाब लगाने पर मालूम हुआ कि इस छोटी सी भूल के कारण उस राज्य की करोड़ों रुपयों की हानि हो चुकी थी! दोबारा फल और वृक्ष के बीच में अल्प-विराम रखकर वह कानून फिर से चलाना पड़ा था। थोड़े दिन पहले बंगाल की व्यवस्थापिका सभा में एक कानून के मसौदे में कुछ लोग एक स्थान पर अल्प-विराम रखवाना चाहते थे; और उसका झगड़ा हाई कोर्ट तक पहुँचा था!

आज-कल हिन्दी में एक बहुत प्रचलित पद है—'मुक्त व्यापार'। यह अँगरेजी के Free Trade का अनुवाद है। इसका आशय है—किसी देश की वह आर्थिक नीति जिसके अनुसार वह दूसरे देशों की चीजें अपने यहाँ बिना किसी विशेष बाधा के आने देता है; और स्वयं अपने यहाँ की चीजें भी इसी प्रकार बाहर जाने देता है। पर यही 'मुक्त-व्यापार' हमारे यहाँ का भी पुराना आध्यात्मिक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—वह व्यक्ति जिसका संसार के कार्यों या व्यापारों आदि से कोई सम्बन्ध न रह गया हो;

अर्थात् वह जो संसार के सब कार्यों से अलग और निर्लिप्त हो। पहले अर्थ में 'मुक्त' शब्द 'व्यापार' के विशेषण के रूप में ही आया है; परन्तु दूसरे अर्थ में 'मुक्त' और 'व्यापार' मिलकर एक समस्त पद बन गये हैं। हिन्दी में समस्त पद उस प्रकार मिलाकर नहीं लिखे जाते, जिस प्रकार संस्कृत में मिलाकर लिखे जाते हैं। अतः दोनों अर्थों में गड़बड़ी हो सकती है। अब यदि पहले अर्थ में दोनों शब्द अलग अलग रखे जायँ और दूसरे अर्थ में दोनों के बीच में योग-सूचक चिह्न (जिसे अँगरेजी में हाइफन कहते हैं) लगा दिया जाय तो दोनों के अलग-अलग अर्थ स्पष्ट हो सकते हैं।

हिन्दी में योग-सूचक चिह्न का ठीक-ठीक उपयोग न होने के कारण कभी कभी अर्थ समझने में लोगों को बहुत कठिनता होती है। एक बार एक पुस्तक में 'सरहस्य' शब्द देखकर लेखक स्वयं चकरा गया था। दोबारा पढ़ने पर पता चला कि यह तो सीधे-सादे 'रहस्य' शब्द के साथ 'स' केवल उपसर्ग के रूप में लगा है। यदि 'स' और 'रहस्य' के बीच में योग-सूचक चिह्न होता तो वह पूर्ण रूप से स्पष्ट रहता। वशेषतः कविताओं में नये विद्यार्थी 'असरस', 'सवेदन' और 'सुरट' सरीखे शब्द देखकर चकरा जाते हैं। एक बार एक विद्यार्थी लेखक के पास 'सुरट' का अर्थ पूछने आया था। वह कहता था कि मैंने कई कोष देख डाले, पर किसी में यह शब्द न मिला। मिलता भी कहाँ से? कवि जी ने 'रट' (रटने की क्रिया या भाव) में 'सु' उपसर्ग लगा रखा था; और दोनों के मेल से यह 'सुरट' शब्द बना था। यदि 'सु' और 'रट' के बीच में योग-सूचक चिह्न होता तो बेचारे विद्यार्थी को परेशानी न होती। एक सीधा-सादा शब्द 'कुनैन' लीजिए जो मलेरिया की प्रसिद्ध औषध है। परन्तु कवि लोग दुष्ट या बुरी आँखों के लिए 'नैन' शब्द के पहले 'कु' उपसर्ग भी तो लगाते हैं; और इस प्रकार वे भी 'कुनैन' सामने ला रखते हैं। इस दूसरे अर्थ में यदि यह शब्द इस प्रकार लिखा जाय—'कु-नैन' तो मतलब झट समझ में आ जायगा और पढ़नेवाले को कुनैन (दवा) के पीछे न दौड़ना पड़ेगा। इस सम्बन्ध की कुछ और बातें आगे प्रूफ के प्रसंग में बतलाई गई हैं, क्योंकि उनका संबंध प्रूफ देखनेवालों से ही है।

प्रश्न-चिह्नों के प्रयोग में भी हम लोग प्रायः बहुत असावधानी करते

हैं। वाक्य में 'क्या' या 'क्यों' सरीखा शब्द आते ही उसके पीछे प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। वे यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि इस वाक्य में प्रश्न का भाव है भी या नहीं। उदाहरणार्थ—'न जाने अब आगे चलकर क्या होगा ?' 'मैं क्या जानूँ कि वे वहाँ गये या नहीं ?' 'अभी तक यह नहीं बतलाया गया कि चीन को क्या क्या सामग्री दी गई ?' आदि। इन वाक्यों में प्रश्न का कोई भाव नहीं है; और इनके साथ प्रश्न-चिह्न नहीं होना चाहिए।

हिन्दी का 'नहीं' शब्द कुछ स्थानों में इन्कार या अस्वीकृति आदि के अर्थ में बोला जाता है। यह विषय दूसरा है कि 'नहीं' का इस अर्थ में प्रयोग करना प्रशस्त है या नहीं। यहाँ हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि कुछ अवसरों पर यह 'नहीं' शब्द यदि अवतरण चिह्न के साथ न हो तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता। एक वाक्य लीजिए—'मुझसे वह काम करने के लिये कहा गया था; पर मुझे नहीं करना पड़ा'। इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनके कारण वह काम करने की नौबत नहीं आई। पर यदि वक्ता या लेखक का यह आशय हो कि मुझे इन्कार करना पड़ा, तो उस अवस्था में यह अर्थ तभी स्पष्ट होगा, जब 'नहीं' शब्द अवतरण-सूचक चिह्न के साथ अर्थात् इस रूप में—'नहीं'—रहेगा।

अँगरेजी में एक विराम-चिह्न है जो 'कोलन' कहलाता है और जो हमारे यहाँ के ठीक विसर्ग (:) के समान होता है। जहाँ तक हो सके, हमें इसके प्रयोग से बचना चाहिए, क्योंकि हमारे यहाँ यह कभी कभी भ्रामक हो सकता है। कुछ लोग ऐसे स्थानों पर इसका प्रयोग करते हैं, जहाँ एक सीधी लकीर या डैश से ही काम चल सकता है। यह वांछनीय नहीं है। कुछ लोग वगैरह आदि शब्द भी विसर्ग से लिखते हैं, जैसे—'वगैर:'। यह भी ठीक नहीं है। इस प्रकार के दूसरी भाषाओं के शब्द विसर्ग के बदले 'ह' से ही लिखे जाने चाहिएँ। विसर्ग का प्रयोग केवल संस्कृत शब्दों के साथ होना चाहिए, जैसे अतः, स्वाभावतः, अधःपात आदि। यद्यपि यह विषय हिज्जे से संबंध रखता है, परन्तु यहाँ कोलन का प्रसंग आ जाने के कारण उसी के साथ इसका भी उल्लेख कर दिया गया है।

यहाँ हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि विराम-चिह्नों का ठीक ठीक

उपयोग बतलाया जाय। हम तो केवल यह बतलाना चाहते हैं कि हिन्दी में विराम-चिह्नों का उपयोग होना चाहिए और ठीक तरह से होना चाहिए। स्वयं विराम-चिह्नों का एक स्वतंत्र विषय है और उसकी जानकारी अन्य योग्य स्थानों से प्राप्त करनी चाहिए। हम यही कहेंगे कि विराम-चिह्नों के प्रयोग में भी लेखकों को सतर्क रहना चाहिए। इस संबंध में हम एक और बात भी बतला देना चाहते है जो विराम-चिह्नों के अंतर्गत ही आती है। वह यह कि लेखकों को गंभीर विषय लिखने के समय प्रायः पाद-टिप्पणियाँ भी लगानी पड़ती हैं। इसके लिए लोग प्रायः *, †, ‡, +, ×, ÷ आदि चिह्नों के प्रयोग करते हैं। पर अनेक अवसरों पर ये चिह्न भ्रामक सिद्ध होते हैं। अतः इनके स्थान पर यदि १, २, ३ आदि अंकों का प्रयोग किया जाय तो अधिक अच्छा होगा।

प्रूफ

लेखकों को जहाँ और बहुत सी बातें जानने की आवश्यकता होती है, वहाँ प्रूफ देखने की अर्थात् छापे की भूलें ठीक करने की योग्यता प्राप्त करना भी आवश्यक होता है। छापे की भूलें ठीक करने की भी एक विद्या या कला है, जो समय लगाकर सीखनी पड़ती है और ध्यानपूर्वक सीखनी पड़ती है। हिन्दी में अभी इस विषय की कोई विशेष चर्चा नहीं हुई है। कुछ लोग छापेखानों में रहकर इस विषय को थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त कर लेते हैं और उतने से ही अपने आपको पारंगत समझने लगते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्रूफ देखनेवालों को अपने मुकाबले में तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। यहाँ हमें स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल की यह उक्ति याद आती है—'भद्दा पद्य बनाने से अच्छा जूता बनाना कहीं अच्छा है।' स्वयं भद्दी हिन्दी लिखने की अपेक्षा प्रूफ में दूसरों की भाषा का भद्दापन दूर करके उसे सुंदर रूप देना कहीं अच्छा है। अनेक लेखक दुनियाँ भर की उलूल-जलूल भाषा लिखकर प्रेस में भेज देते हैं। अच्छे प्रूफ-रीडर ही उन्हें बहुत कुछ परिष्कृत तथा सुन्दर रूप में जनता के सामने उपस्थित करते हैं। या मान लीजिए कि हम बहुत ही अच्छी भाषा लिखते हैं और उसमें किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अवस्था में इस बात की बहुत बड़ी आशंका रहती है कि हमारी भाषा और भावों का बहुत कुछ सौंदर्य प्रेस के भूतों की

कृपा से नष्ट न हो जाय। इसलिए हमें स्वयं अपनी चीजों का प्रूफ देखना चाहिए; और इसी लिए अच्छी तरह प्रूफ देखने की कला भी सीखनी चाहिए।

प्रेस के भूतो की कृपा से कभी कभी बहुत बड़े अनर्थ हो जाते हैं। एक सज्जन ने लिखा तो था—'उसका सारा शरीर क्लेद से भर गया।' पर छपा था—'उसका सारा शरीर प्लेग से भर गया।' एक जगह 'देहात' का 'देहान्त' हो गया था, और दूसरी जगह 'चिन्ताएँ' का 'चिताएँ'। एक और जगह 'स्वर्ग सिधार गई' की जगह छपा था—'स्वर्ग सुधार गई'। एक दैनिक पत्र में 'फूड कंट्रोलर' की जगह 'फूल कंट्रोलर' छप गया था! एक स्थान पर 'बँगला' की जगह 'बगला' छप गया था, जिसके कारण वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं निकलता था। 'अलसता' की जगह 'असलता', 'बारह' की जगह 'बाहर' और 'गाड़ी' की जगह 'गाढ़ी' देखकर प्रायः पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं। बहुत दिन पहले एक समाचार पत्र में छपा था—'अमुक राजा ने अमुक संस्था को ५०० एक कालीन दान दिया।' मतलब था कि पूरी रकम एक साथ ही या एक-मुश्त दी गई है। पर दूसरे दिन कई आदमी उस संस्था में वह कालीन (गलीचा) देखने के लिए जा पहुँचे जो उनकी समझ में राजा साहब की तरफ से संस्था को मिला था। वहाँ पहुँचने पर उन्हें पता चला कि प्रेस के भूतों की कराभात कैसी होती है!

सब कुछ शुद्ध छपने पर भी केवल शब्दों के बीच में ठीक स्पेस या स्थान न देने के कारण ही कभी-कभी भद्दी भूलें हो जाती हैं। 'सुंदर कोप नहीं सपने' की जगह 'सुंदर को पनहीं सपने' तो बहुत पुरानी और प्रसिद्ध बात है। 'ला री, ला' की जगह 'लारी ला' कितना भ्रामक है! एक पुस्तक में देखा था—'राजा को अपनाकर सबसे लेना चाहिए।' जिसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। होना चहिए था—'राजा को अपना कर सबसे लेना चाहिए।' सबसे मजेदार उदाहरण जो हमें मिला, वह एक रामचरितमानस में था। उसमें—'भजंतीह लाके परे वा नराणां' में का 'वा नराणा' मिलकर 'वानराणां' हो गया था!

प्रूफ देखनेवालों को एक और बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। प्रायः छापे के अक्षर बैठाने के समय ऐसा होता है कि शब्द तो पूरा नहीं होने पाता और पंक्ति समाप्त हो जाती है। ऐसे अवसर पर यदि

प्रूफ देखनेवाला समझदार न हो तो बहुत गड़बड़ी हो सकती है। मान लीजिए कि लेखक ने 'रोम-लता' शब्द का प्रयोग किया है। पंक्ति कहीं इसी शब्द के बीच में समाप्त होती है। अतः ऐसा नहीं होना चाहिए कि 'रोमल' तो ऊपरवाली पंक्ति के अन्त में आवे और 'ता' नीचे की पंक्ति के आरम्भ में आ जाय। पढ़नेवाले के लिए इस भ्रम की गुंजाइश नहीं रखनी चाहिए कि 'रोमल' कोई खास शब्द है और उसमें 'ता' भाववाचक प्रत्यय के रूप में लगा है। यही बात भारत, असन्तोष और अनुकरण सरीखे शब्दों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यदि शब्द दो पंक्तियों में विभक्त करना पड़े तो वह ठीक जगह से तोड़ा जाना चाहिए। जैसे—भा-रत, अ-सन्तोष, अनु-करण; न कि भार-त, अस-न्तोष, अनुक-रण आदि।

एक और प्रकार के स्थल होते हैं जिनमें योग-सूचक चिह्नों की आवश्यकता होती है, परन्तु अभी तक हिन्दीवालों का ध्यान उस ओर नहीं गया है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए—'वे लोग सिंगापुर जा रहे हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जल या स्थल-मार्ग से।' इस वाक्य में 'मार्ग' शब्द का 'जल' के साथ भी वही सम्बन्ध है जो 'स्थल' के साथ है अधिक सतर्क लेखक भी 'स्थल' और 'मार्ग' के बीच में तो योग-सूचक चिह्न लगा देते हैं, परन्तु 'जल' शब्द यों ही छोड़ देते हैं। पर 'जल' के बाद भी उसी प्रकार योग-सूचक चिह्न लगना चाहिए, जिस प्रकार 'स्थल' के बाद लगता है। अर्थात् वाक्य का रूप इस प्रकार होना चाहिए—'जल—या स्थल-मार्ग से।' इसी प्रकार—'निष्ठावान् राष्ट्र और मातृभाषा सेवक' का अर्थ तभी ठीक तरह से समझ में आ सकता है, जब 'राष्ट्र' के बाद भी योग-सूचक चिह्न हो। 'हमारे कला और हिन्दी-प्रेमी उदार दाता' में 'कला' के बाद भी योग-सूचक चिह्न होना चाहिए।

यह और इसी प्रकार की और बहुत सी बातें हैं जिनमें अच्छा प्रूफ देखने-वाला कम सतर्क लेखक के लेख आदि अधिक स्पष्ट और सुन्दर या सुवाच्य बना सकता है। जो बातें शीघ्रता या प्रमाद आदि के कारण लेखकों से छूट जाती हैं, उनकी बहुत कुछ पूर्ति अच्छे प्रूफ-रीडर कर दिया करते हैं। यहाँ आकर यह सिद्धांत चरितार्थ होता है—'मनुष्य जो कुछ करे, वह बहुत अच्छी तरह करे।'

१२

हमारी आवश्यकताएँ

जब तक हम जीते रहेंगे और आगे बढ़ते रहेंगे, तब तक अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ भी हमारे साथ लगी ही रहेंगी। आवश्यकताएँ जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इस दृष्टि से यदि हम कहें कि भाषा के क्षेत्र में भी और लिपि के क्षेत्र में भी हमारी कुछ आवश्यकताएँ हैं, तो इसमें किसी को कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

पहले हम भाषा-सम्बन्धी आवश्यकताएँ लेते हैं। हमारी सबसे पहली और बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारी भाषा का स्वरूप स्थिर और निश्चित हो। इस पुस्तक में अब तक जितनी बातें बतलाई गई हैं, उनसे अच्छी तरह यह सिद्ध हो जाता है कि हम अभी तक अपनी भाषा का स्वरूप ही स्थिर नहीं कर सके हैं। हमारे शब्द, उन शब्दों के रूप, वाक्य-रचना, लेख-प्रणाली आदि सभी बातें अनिश्चित रूप से चल रही हैं और किसी मर्यादा की अपेक्षा रखती हैं। देश में राष्ट्रीयता की जो लहर उठी है, उससे हमारी भाषा के प्रवाह में बहुत कुछ बल और वेग तो अवश्य आ गया है; पर न तो अभी तक उस प्रवाह का कोई निश्चित स्वरूप है और न कोई निश्चित धारा। और शायद इसी लिए उसकी दिशा भी ठीक तरह से निश्चित नहीं हो रही है।

हिन्दी लिखनेवालों की संख्या अवश्य दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। आज-कल जिसे देखिए, वही हिन्दी लिखता दिखाई देता है। यह हमारे लिए एक प्रकार से अभिमान की ही बात है। फिर भी यदि हमारे सामने यह प्रश्न आवे कि सचमुच ठीक और अच्छी हिन्दी लिखनेवाले कितने लेखक हैं, तो हमें कहना पड़ेगा कि उनकी संख्या बहुत ही कम है। हमारे यहाँ के अधिकांश लेखक ईश्वर की दया से स्वयंभू ही हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि हम किसी के पास बैठकर उससे कुछ सीखना नहीं चाहते। दूसरे,

हमारी भाषा का स्वरूप भी स्थिर नहीं है। बल्कि हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि वह स्वरूप दिन-पर-दिन और भी विकृत होता जा रहा है। यह स्थिति हमारे लिए कभी कल्याणकारी नहीं हो सकती। यदि सचमुच हम अपनी भाषा को ठीक अर्थों में राष्ट्र भाषा बनाना चाहते हों तो हमें सबसे पहले अपनी भाषा का स्वरूप स्थिर करना होगा। यह एक ऐसा काम है जिसमें हिन्दी के हर लेखक को हाथ बँटाना चाहिए। बड़े लेखकों की भाषा का स्वरूप स्थिर करना चाहिए; और छोटे लेखकों को उनका अनुकरण करना चाहिए। यदि बड़े-बड़े लेखक ही इस ओर से उदासीन रहेंगे तो भाषा का कहीं ठिकाना न लगेगा।

हमारी दूसरी आवश्यकता है—शब्दों के रूप और अर्थ आदि निश्चित करना। शब्दों के रूपों के सम्बन्ध में हमारे यहाँ बहुत बड़ी धाँधली चली आ रही है, जिसका कुछ उल्लेख पिछले प्रकरण में हिज्जे के प्रसंग में किया जा चुका है। एक ही शब्द कई-कई रूपों में लिखा जाता है। हमारे यहाँ के अनेक प्राचीन कवि तो एक ही शब्द को अनेक रूप देने में बहुत ही सिद्धहस्त थे। हम इसके लिए न तो उनकी निन्दा करते हैं और न उन्हें किसी तरह का उलाहना देते हैं। उनका समय ही वैसा था। वे जो कुछ कर गये, वह बहुत कर गये और बहुत अच्छा कर गये। परन्तु आज-कल की परिस्थितियों को देखते हुए हमारा जो कर्तव्य है, वह भी हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और यथासाध्य उसके पालन का प्रयत्न करना चाहिए।

शब्दों के रूप स्थिर करना कई दृष्टियों से बहुत आवश्यक है। इससे हम अपनी भाषा अ-हिन्दी-भाषियों के लिए सुगम कर सकेंगे। हिन्दी-भाषियों के लिए भी हम उसे सहज कर सकेंगे और अपने वैयाकरणों तथा कोषकारों को भी कई तरह की झंझटों से बचा सकेंगे। और फिर इससे हम अपनी भाषा का जो गौरव बढ़ावेंगे, वह अलग।

यह युग प्रतिद्वन्द्विता का है। जहाँ प्रतिद्वन्द्विता होती है, वहाँ उपयोगिता का तत्त्व आप से आप मुख्यता प्राप्त कर लेता है। जब एक ही तरह की कई चीजें मैदान में हों, तब वही चीज सबसे ज्यादा अपनाई जायगी जो सबसे अधिक उपयोगी होगी। आरम्भ में कुछ समय तक अनुचित

पक्षपात और दुराग्रह आदि भले ही बाजी मार ले जायँ, पर अन्त में पूछ उपयोगिता की ही होगी। यदि हम अभी से इस बात का ध्यान रखेंगे, तब तो हमारी भाषा राष्ट्र भाषा हो सकेगी, नहीं तो नहीं। यह ठीक है कि हमारी भाषा मध्य देश की भाषा होने और मूलतः इसी देश में उत्पन्न होने के कारण बहुत दिनों से यहाँ की सार्वदेशिक भाषा रही है; और उसमें अनेक ऐसे तत्त्व वर्तमान हैं जो बहुत दिनों तक अवश्य ही उसे उस पद पर रखेंगे। फिर भी योग्यता और उपयोगिता का प्रश्न बना ही रहेगा। अतः हमें अपनी भाषा में ऐसी योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए और उसमें इतनी अधिक उपयोगिता लानी चाहिए कि उसे उस पद से हटाना असम्भव हो जाय।

भाषा की सबसे बड़ी योग्यता और उपयोगिता उसकी भाव-व्यंजनावाली शक्ति में होती है। हमारी हिन्दी के लिए यह बहुत बड़े अभिमान की बात है कि वह उस संस्कृत की परम्परा में और उत्तराधिकारिणी है, जो किसी समय अपने इन्हीं गुणों के कारण संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा थी। उसका 'देव-वाणी' नाम ही इस बात का सूचक है कि वह समस्त मानवी वाणियों से बढ़कर थी। पर काल या समय सबको खा जाता है। आज उसकी गिनती मृत भाषाओं में होती है। किसी समय भारत में—भारत में ही क्यों, भारत से सम्बन्ध रखनेवाले आस-पास के देशों में भी—जो स्थान संस्कृत का था, वही स्थान और शायद उससे भी कुछ और ऊँचा स्थान आज-कल सारे संसार में अँगरेजी का है। यह ठीक है कि अँगरेजी की पीठ पर बहुत बलवान राजसत्ता है। पर साथ ही हमें यह भी मानना पड़ेगा कि स्वयं भाषा की दृष्टि से भी उसमें अनेक गुण हैं, जिनके कारण और भाषाओं की अपेक्षा संसार में उसका सबसे अधिक प्रचार है। उसका शब्द-भंडार बहुत बड़ा है, उसकी भाव-व्यंजक शक्ति भी बहुत प्रबल है; और उसमें नमनशीलता भी सबसे अधिक है। हमें भी अपनी भाषा में ये गुण बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमारी आकर भाषा संस्कृत का शब्द-भंडार भी साधारण नहीं है। किसी समय तो वही शब्द-भंडार सबसे बड़ा था। इतना बड़ा था कि एक पदार्थ-वाचक शब्द के पचास-पचास और सौ-सौ पर्याय उसमें थे। पर्याय गढ़ने में हम सबसे बढ़-चढ़ गये थे। एक उदाहरण लीजिए। पांडु के पाँच

पुत्रों में एक अर्जुन भी थे। उधर अर्जुन एक प्रसिद्ध वृक्ष का भी नाम था। अर्जुन (वृक्ष) के लिए जब कोडियों पर्याय गढ़ते-गढ़ते हम थक गये, तब हमने वे सभी पर्याय अर्जुन (पांडव) के लिए भी रख दिये! पर आज-कल की परिस्थिति देखते हुए इस प्रकार के अधिकांश शब्द हमारे लिए फालतू ही हैं। तब से अब तक बहुत सी नई विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञान-विज्ञान आदि भी प्रचलित हुए हैं। भावों और उन्हें व्यक्त करने की प्रणालियों आदि के भी बहुत-से सूक्ष्म भेद और प्रकार आदि हमारे सामने आ रहे हैं। अतः हमें बहुत से नये शब्द भी गढ़ने पड़ते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी में तो ज्यों ज्यों आवश्यकता पड़ती गई है, त्यों त्यों शब्द गढ़े गये हैं; और हमें केवल वे शब्द देखकर ही नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं। पर नये शब्द गढ़ने का यह काम जिस व्यवस्थित रूप में होना चाहिए, उस रूप में नहीं हो रहा है। हम अनुकरण तो करना चाहते हैं, पर अपनी बुद्धि लगाना नहीं चाहते। अब वह समय आ गया है जब कि हमें अन्ध अनुकरण छोड़कर बुद्धि से भी कुछ काम लेना चाहिए।

प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ या भाव होता है; और वह अर्थ या भाव सूचित करने के लिए सदा उसी शब्द का प्रयोग होता है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो ऊपर से देखने में एक दूसरे के पर्याय से ही जान पड़ते हैं, परन्तु उनके अर्थों में कुछ सूक्ष्म भेद होते हैं। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक शब्द का कुछ निश्चित और विशिष्ट अर्थ होता है। अँगरेजी में ऐसे बहुत-से शब्द-युग्म हैं जिनके अर्थ और भाव में बहुत कुछ भेद है, परन्तु हमारे यहाँ हिन्दी में उनके लिए बहुधा किसी एक ही शब्द से काम लिया जाता है। यह बात अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण है और हमारी भाषा की हीनता सूचित करती है। ऐसे शब्दों के लिए हमें अलग अलग शब्द निश्चित करने चाहिएँ और प्रसंग के अनुसार सदा उन्हीं का व्यवहार करना चाहिए। उदाहरण के लिए हम यहाँ कुछ ऐसे शब्द देते हैं।

Acquittal..............................Discharge
Air..Wind

Flesh..............................Meat
Honour..............................Prestige
House..............................Home
Liberty..............................Freedom
Price..............................Value
Samplc..............................Specimen
Statesman..............................Politician
Trade..............................Commerce
War..............................Battle

ऊपर शब्दों के जो जोड़े दिये गये हैं, उनके अर्थ और भाव में बहुत कुछ अन्तर है। पर हमारे यहाँ उस अन्तर का ध्यान न रखकर उनके लिए प्रायः एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए हम Flesh और Meat दोनों को मांस या गोश्त ही कहते हैं। Price और Value दोनों के लिए मूल्य या कीमत और Statesman तथा Politician दोनों के लिए सभी जगह राजनीतिज्ञ शब्द का ही प्रयोग होता है। हमारे यहाँ संस्कृत में शब्दों की कमी नहीं है। हम ऐसे शब्दों के लिए अलग-अलग संस्कृत शब्द निश्चित कर सकते हैं; अथवा आवश्यकता होने पर अरबी-फारसी आदि के परम प्रचलित शब्द भी काम में ला सकते हैं। क्यों न हम Honour के लिए 'सम्मान', Prestige के लिए 'प्रतिष्ठा', Trade के लिए 'व्यापार', Commerce के लिए 'व्यवसाय', War के लिए 'युद्ध', Battle के लिए 'लड़ाई' Value के लिए 'मूल्य', Price के लिए 'दाम' और Politician के लिए 'राजनीतिज्ञ' तथा Administrator के लिए अपने यहाँ के पुराने शब्द 'व्यवहर्त्ता' का व्यवहार करें? हमारा किसी विशेष शब्द के लिए कोई आग्रह नहीं है। हम तो यही चाहते हैं कि ऐसे शब्दों के लिए कुछ हिन्दी शब्द भी स्थिर हो जायँ और सर्वत्र उन्हीं का प्रयोग हो।

संज्ञाओं से बढ़-कर विकट प्रश्न विशेषणों का है। अँगरेजी का एक विशेषण है Plain जिसके कई अर्थ हैं और कई अर्थों में इतने अधिक

सूक्ष्म भेद और उपभेद हैं कि उन्हें देखकर हम चकित रह जाते हैं। उसके एक अर्थ के भेद लीजिए—

Obvious, Clear, Manifest, Apparent, Lucid, Conspicuous, Distinct, Explicit, Evident, Unmistakable, Undisguised आदि।

कुछ और अर्थ-भेद इस प्रकार हैं—

Artless, Simple, Natural, Candid, Honest, Straightforward, Open, Frank, Unreserved, Direct, Down-right, Positive, Unequivocal, Ugly, Ordinary, Homely, Uncomely, Uncouth, Inartistic, Unlovely आदि।

अब आप ही सोचिए कि इन सब शब्दों के लिए हमारे पास कितने पर्याय हैं; और जहाँ भावों के सूक्ष्म भेद दिखलाने की आवश्यकता होती है, वहाँ हम क्या करते हैं। बस जैसे-तैसे काम चलता करते हैं। अब काम चलता करनेवाली इस प्रवृत्ति का अन्त होना चाहिए और हमें इनके लिए शब्द गढ़ने चाहिएँ। पर नये शब्द बहुत समझ-बूझकर गढ़े जाने चाहिएँ। हमारे यहाँ यह प्रवृत्ति है कि शब्द गढ़ लिया जाय, चाहे उससे अर्थ निकले, चाहे न निकले। उदाहरणार्थ कई समाचारपत्र Authorised और Unauthorised के लिए क्रमशः 'अधिकृत' और 'अनधिकृत' का प्रयोग करते हैं। वे यह नहीं समझते कि 'अधिकृत' का अर्थ हमारे यहाँ क्या है और वह किस भाव का सूचक है। 'अधिकृत' का सीधा-सादा अर्थ है—'जिस पर अधिकार किया गया हो'; और यह अर्थ Authorised के अर्थ से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। अलग-अलग लेखक अलग-अलग शब्द गढ़ते हैं और प्रायः शब्द बदलते भी रहते हैं। भाषा की स्थिरता की दृष्टि से यह बहुत ही बुरा है। इसके सिवा अँगरेजी के Sub, Pro, Vice, Re, Un, Pre, Mis आदि उपसर्गों के लिए भी हमें ऐसे उपसर्गों की आवश्यकता है जो सब जगह समान रूप से काम में आ सकें। यदि इस प्रकार के सभी शब्दों के लिए हम आज ही पर्याय निश्चित न कर सकें तो न सही। पर कुछ काम तो आरम्भ हो ही जाना चाहिए। आज हम कुछ शब्दों के लिए पर्याय निश्चित करें। फिर आगे आनेवाली पीढ़ी बाकी शब्दों के लिए पर्याय

निश्चित करेगी। अँगरेजी भाषा का सारा ढाँचा एक ही दिन में खड़ा नहीं हुआ है। उसमें सैकड़ों वर्ष लगे हैं। यदि हमें भी इस काम में दस-बीस या पचास वर्ष लग जायँ तो कोई हर्ज नहीं। पर ऐसी बातों की ओर हमारा ध्यान तो जाना चाहिए। अभी तक हम इस ओर से बिलकुल उदासीन हैं।

एक बात और है। इस प्रकार के सभी शब्दों के ठीक ठीक पर्याय गढ़ने का सारा उत्तरदायित्व हम्हीं पर नहीं है। मराठी, बँगला और गुजराती आदि के साहित्यज्ञों को भी इसकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी हमें है। अतः यह काम सारे देश के और सभी भारतीय भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वानों के सहयोग से होना चाहिए। केवल हमारे निश्चित किये हुए पर्याय, सम्भव है, औरों को मान्य न हों। पर जब देश भर के और सभी भाषाओं के विद्वान मिलकर यह काम करेंगे, तब बहुत सी कठिनाइयाँ सहज में दूर हो जायँगी; और सारे देश के लिए एक निश्चित राष्ट्र भाषा की नींव पड़ जायगी।

कुछ लोग यह चाहते हैं कि हम जितने नये शब्द लें, वे सब विशुद्ध संस्कृत के ही तत्सम या तद्भव शब्द हों, और किसी भाषा के न हों। परन्तु यह इच्छा कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। पहली बात तो यह है कि रेल, टिकट, क्लब, सिनेमा, रेडियो, कांग्रेस, लीग, पेन्सिल, फुट आदि सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जो हमारी ही भाषा में नहीं, संसार भर की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में बहुत-कुछ इन्हीं रूपों में प्रचलित हो गये हैं। इनके स्थान पर नये शब्द गढ़ने का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, बल्कि हानिकारक भी होगा। हमारी इसी प्रवृत्ति से अनुचित लाभ उठाकर और हमारी भाषा को बदनाम करने और बिगाड़ने के लिए टिकट के स्थान पर 'घर-घुसेड़' शब्द रखने का प्रस्ताव हुआ था! अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण हम कारंवाई की जगह 'कार्यवाही' शब्द का प्रयोग करते हैं; और इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते कि इन दोनों शब्दों के अर्थ एक दूसरे से कितने दूर जा पड़ते हैं। और यही प्रवृत्ति कुछ लोगों से 'स्फट्यात शाल्वीय' और 'इर्यात तरस्वेय' सरीखे ऐसे शब्द बनवाती है जो न सहज में बोले या याद रखे जा सकते हैं और न जल्दी किसी की समझ में आ सकते हैं। दूसरी ओर यह प्रवृत्ति इस रूप में देखने में आती है कि हाई स्कूल के लिए

'फ़ौक़ानियः', मिडिल स्कूल के लिए 'वस्तानियः' और प्राइमरी स्कूल के लिए 'तहतानियः' सरीखे ऐसे शब्द गढ़े जाते हैं जिनका इस देश की जनता के साथ बादरायण के सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय में हमारा एक नम्र निवेदन है। जो लोग अपनी भाषा का प्रचार सारे देश में करना चाहते हों, उन्हें ऐसे सहज शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए जो अधिक से अधिक क्षेत्रों और प्रान्तों में बोले और समझे जाते हों। भाषा के प्रचार का यह मूल सिद्धान्त हमें सदा स्मरण रखना चाहिए। कोई पूछ सकता है कि आज-कल जो भाषा हिन्दी समाचारपत्रों और पुस्तकों आदि में मिलती है, वह कितने आदमी समझते हैं। इसका उत्तर है—देश के तीन-चौथाई पढ़े-लिखे आदमी। हमारी हिन्दी बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब, राजपूताने, गुजरात आदि में ही नहीं बल्कि तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम आदि प्रान्तों में भी कुछ न कुछ समझी जा सकती है। हाँ, जो लोग स्वयं अपनी भाषा के शब्द छोड़कर जबरदस्ती विदेशी भाषाओं के शब्द बोलने और सुनने-समझने के अभ्यस्त बन गये हों, उनकी बात और है। हमारे बहुत से भाई ईसाई हो गये हैं और अँगरेजी बोलने लगे हैं। पर उनके सुभीते के लिए हम अँगरेजी नहीं ग्रहण कर सकते।

यहाँ ध्यान रखने की एक बात यह है कि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्द तो सहज में निकाले जा सकते हैं और निकाले जाने चाहिएँ; पर केवल 'विदेशी बहिष्कार' के फेर में पड़कर बाहरी सरल शब्दों के स्थान पर अपने यहाँ के कठिन शब्द प्रचलित करने का प्रयत्न निरर्थक और विफल होगा। 'कम' का बहिष्कार करके उसकी जगह 'अल्प' या 'न्यून' नहीं चलाया जा सकता। किसी भाषा में जब कुछ विदेशी सरल शब्द आकर मिल जाते हैं, तब उनके स्थान पर अपने यहाँ के कठिन शब्द चलाना कठिन तो होता ही है, प्रायः व्यर्थ भी होता है। इसके बदले यदि कठिन और दुर्बोध शब्द निकालकर उनकी जगह सरल और सुबोध शब्द चलाने का प्रयत्न किया जाय तो वह श्रेयस्कर भी होगा और सफल भी।

राष्ट्रीयता की भावना बहुत अच्छी चीज है, पर उसकी भी कोई सीमा होनी चाहिए। इस भावना का अतिरेक कभी-कभी लोगों को सीमा का

कुछ उल्लंघन करने के लिए भी बाध्य करता है। जापान में पहले 'शिन्तो' धर्म चलता था, जिस पर बाद में बौद्ध धर्म की इतनी जबरदस्त रंगत चढ़ी थी कि उसका मूल रूप बिलकुल दब गया था। जब जापानियों पर राष्ट्रीयता का जादू चला, तब उन्होंने अपने धर्म पर से सारी बौद्ध रंगत धो डाली और उसका हजारों बरस का पुराना रूप ढूँढ़ निकाला और उसी का प्रचार आरम्भ किया। यूरोप में किसी समय जरमन भाषा में से विदेशी शब्द चुन-चुनकर निकाले गये थे। तुर्कों ने भी ऐसी ही मनोदशा में अरबी शब्दों का बहिष्कार किया था। ईरान ने भी उसका अनुकरण किया। वहाँ की भाषा में आधे के लगभग जो अरबी शब्द घुस गये थे, वे सब सरकारी आज्ञा से बहिष्कृत होने लगे और उनके स्थान पर ईरानी या फारसी भाषा के शब्द चलने लगे। उन्होने अरबी के 'अल्लाह' और 'रसूल' तक की जगह अपने यहाँ के 'खुदा' और 'पैगम्बर' शब्द चलाये। अब अफगानिस्तान भला क्यों पीछे रहता! उसने अरबी और फारसी दोनों भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार आरम्भ किया है। ये सब तो स्वतन्त्र देशों की बातें हैं। पर हमारा देश परतन्त्र है; इसलिए यदि यहाँ उलटी गंगा बहे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हमारे यहाँ एक विशिष्ट वर्ग में राष्ट्रीयता की बिलकुल झूठी और नितान्त परकीय भावना भरने का प्रयत्न होता रहा हैं। हमारे बाप-दादा अनेक पीढ़ियों से जो शब्द बोलते आये थे, उनकी जगह हमारे कुछ भाई अपनी भाषा में बलपूर्वक ऐसे शब्द भरना चाहते हैं जो हमारी प्रकृति के विरुद्ध होने के अतिरिक्त अन्य देशों में पूरी तरह से परित्यक्त और तिरस्कृत हो चुके हैं। ऐसे लोगों से हम विशेष कुछ न कहकर उनका ध्यान श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित की इस उक्ति की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं—'अपनी जन्म-भूमि में जमी हुई जड़ें छोड़कर कोई राष्ट्र कभी वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता।' यद्यपि श्रीमती पंडित ने यह बात एक राजनीतिक प्रसंग में कही थी, पर हम समझते हैं कि भाषा के क्षेत्र में भी यह अक्षरशः सत्य है। सच्ची राष्ट्रीयता का यही मूल मन्त्र है। हिन्दी से अलग उर्दू भाषा की सृष्टि करने के उपरान्त जब राजनीतिक कारणों से बँगला और मराठी तक में अरबी और फारसी के नये-नये शब्द जबरदस्ती भरे जाने लगे, तब मराठीवालों ने भी अरबी और फारसी के शब्दों

का बहिष्कार आरम्भ किया। सुनते हैं कि मराठी में एक 'बहिष्कार कोश' भी छप गया है जिसमें यह बतलाया गया है कि अमुक-अमुक विदेशी शब्दों का बहिष्कार होना चाहिए और उनकी जगह अमुक-अमुक देशी शब्द काम में लाये जाने चाहिएँ। एक बहुत बड़ी सीमा तक यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी है। यदि सभी देशवासियों में यह ठीक तरह से बढ़ती रहे तो हम एक ऐसे समय की भी प्रतीक्षा कर सकते हैं, जब हमारे यहाँ भी 'अल्लाह' और 'खुदा' दोनों की जगह 'ईश्वर' ही दिखाई देगा। इस बात का बहुत ही सूक्ष्म आभास हमें इस शेर में मिल सकता है—

> कीजे न 'जमील', उर्दू का सिंगार, अब ईरानी तल्मीहों[1] से।
> पहनेगी विदेसी गहने क्यों, यह बेटी भारत माता की।

फिर भी भाषा की दृष्टि से हमें एक बात का ध्यान रखना ही पड़ेगा। वह यह कि भाषा में नये शब्द आकर मिलते ही रहेंगे। हम विदेशी भाषा के शब्दों का अनुपात तो अवश्य कम कर सकते हैं, पर कदाचित् उन्हें नितान्त निर्मूल नहीं कर सकते। विदेशी भाषाओं के बहुत-से शब्द हमारी भाषा में इस प्रकार मिल गये हैं कि उनका सारा विदेशीपन नष्ट हो चुका है और वे हमारी भाषा के अंग बन गये हैं। अनार, सेब, कम, बन्द, कमर, कसर, किराया, सवार, कुरसी, जादू, सरकार, दरबार, नीलाम, बहार, गिरह, नाप, पुल, दीमक, सिपाही, वरदी, लंगर, बरफ, वकील, सन्, हवा, हाल, और माल आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इसके सिवा कफन, कब्र, ऐनक, चश्मा, इंच, फुट आदि बहुत से ऐसे शब्द भी हैं जिनके लिए नये शब्द गढ़ना कठिन ही नहीं बल्कि व्यर्थ भी है। बहुत से विदेशी शब्दों से तो हमारे यहाँ क्रियाएँ भी बन गई हैं। जैसे—बदलना, गुजरना और शरमाना आदि। देहाती लोग तो 'तलाशना' और 'जल्दियाना' आदि भी बोलते हैं। भला 'खरीदना' और 'बदलना' आदि शब्द हमारी भाषा में से तब तक कैसे निकल सकते हैं, जब तक हम उनके स्थान पर क्रमशः 'मोलना' या 'कीनना' या 'क्रयना' और 'परिवर्तना' आदि क्रियाएँ न ग्रहण करें? और ऐसी क्रियाओं के कम से कम अभी प्रचलित हो सकने की तो कोई आशा नहीं है। इसी लिए

१. तल्मीह—किसी कथानक या परिभाषा आदि का उल्लेख या संकेत।

हम समझते हैं कि ऐसे शब्दों को अपनी भाषा से निकालने का प्रयत्न अनावश्यक तो होगा ही, शायद निरर्थक भी हो तो आश्चर्य नहीं।

संसार की सबसे उन्नत भाषा अँगरेजी ने भी संसार की बहुत सी भाषाओं से कुछ-न-कुछ उपयोगी शब्द लिये हैं; और उन भाषाओं में हमारी हिन्दी भी है। दूसरी भाषाओं से शब्द लेना कोई लज्जा की बात नहीं है। लज्जा की बात है उन्हें लेकर भी हजम न कर सकना—उन पर अपनी पूरी-पूरी छाप न बैठा सकना। अतः इस सम्बन्ध में सिद्धान्त यह होना चाहिए कि किसी शब्द की आवश्यकता पड़ने पर पहले हम अपना घर देखें। यदि हमारे यहाँ काम चलाने योग्य शब्द न मिले, तब पड़ोसियों के यहाँ से शब्द लेकर काम चलावें। और जब पास-पड़ोस से भी काम न चले, तब दूर के देशों से भी थोड़ा-बहुत आयात कर लेने में कोई हानि नहीं है। पर हाँ, हम जो कुछ लें, वह हमारी प्रकृति के अनुकूल होना चाहिए और हमारी पाचन-शक्ति के प्रभाव में आ जाना चाहिए।

उदाहरण के लिए एक बहुत प्रचलित शब्द 'अन्तर्राष्ट्रीय' लीजिए। यह अँगरेजों के 'इन्टरनेशनल' शब्द की जगह प्रचलित हुआ है। यदि सच पूछिए तो इसमें का 'अन्तर' शब्द अँगरेजी के 'इन्टर' से मिलते-जुलते संस्कृत रूप के सिवा कुछ भी नहीं है। 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार ठीक नहीं है। वैयाकरणों का मत है कि इसका शुद्ध रूप 'अन्ताराष्ट्रीय' है। इसी लिए कुछ लोग 'अन्तर्राष्ट्रीय' की जगह 'सार्वराष्ट्रीय' रखते हैं। पर 'अन्तर्राष्ट्रीय' चल पड़ा है और केवल इसलिए चल पड़ा है कि उसमें का 'अन्तर' अपना सा जान पड़ने के सिवा अँगरेजी के 'इन्टर' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता भी है। अब इसी के अनुकरण पर अन्तर्जातीय, अन्तर्देशीय और अन्तस्सामाजिक आदि बहुत से शब्द बनने लगे हैं और खूब चलते हैं। यह मानों अँगरेजी के 'इन्टर' शब्द पर ही हमने अपनी पूरी और पक्की मोहर लगाई है। पर अब कुछ लोग 'अन्तर्जिला फुटबाल मैच' लिखकर औचित्य की सीमा का और भी उल्लंघन करने लगे हैं। विज्ञान का एक अँगरेजी पारिभाषिक शब्द है 'आयन' (Ion) जो एक विशेष अवस्था के विद्युन्मय कणों के लिए प्रयुक्त होता है। हमारे यहाँ के कुछ वैज्ञानिकों ने यह शब्द इसी

लिए ज्यों का त्यों उसी अर्थ में ले लिया है कि इसके रूप और उच्चारण में कहीं से परकीयता नहीं झलकती, बल्कि यह देखने में बिलकुल संस्कृत का शब्द जान पड़ता है। वे इससे 'आयनित' (विशेषण) भी बना लेते हैं। अब हम यदि ऐसे सुन्दर और सहज शब्द को छोड़कर इसकी जगह 'स्फुटित विद्युन्मय कण' रखना और चलाना चाहें तो हमारा वह प्रयत्न मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद ही होगा। इसी प्रकार का एक शब्द 'अतलान्तक' है जो 'एटलान्टिक' की जगह चलने लगा है। इसका अर्थ चाहे कुछ हो, पर एक तो 'एटलान्टिक' से इसका वर्ण-साम्य है; और दूसरे यह हमें अपना जान पड़ता है। फिर सुन्दर, सहज और परिचित भी है। सारांश यह कि हमें शब्द तो अवश्य ही लेने पड़ेंगे और बनाने भी पड़ेंगे। पर चलेंगे वही शब्द, जो हमारी प्रकृति के अनुकूल होने के अतिरिक्त उच्चारण आदि की दृष्टि से सहज भी होंगे। 'रहस्यमय मधुर सम्बन्ध' में मूल भाव तो अवश्य परकीय है, पर उस पर हमने ऐसी छाप लगा दी है कि उसकी सारी परकीयता नष्ट हो गई है और वह हमें बिलकुल अपनी सी चीज जान पड़ता है। अब कुछ लोग आवश्यकता-वश, वढ़ाव, सुझाव, सुलझाव, फेनिल, तंद्रिल, सुरमीला और झेंपीला सरीखे कुछ नये शब्द चलाने भी लगे हैं, जो शुभ लक्षण है।

यह तो सभी लोग स्वीकार करते हैं कि हमें बहुत-से नये शब्दों की आवश्यकता है; और बहुत-से लोग नये शब्द गढ़ते भी हैं। पर प्रायः लोग नये शब्द गढ़ने के समय कई आवश्यक और उपयोगी बातों का ध्यान नहीं रखते। वे न तो यही देखते हैं कि हम जो नये शब्द गढ़ते हैं, वे ठीक-ठीक भाव प्रकट करनेवाले हैं या नहीं; और न यही देखते हैं कि वे सरल हैं या कठिन। प्रायः इस प्रकार नये गढ़े जानेवाले शब्द हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध भी पड़ते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार के नये शब्द समान रूप से प्रचलित नहीं होने पाते। लेखक को हाल के बने हुए दस-बारह छोटे-बड़े शब्द-कोश देखने का अवसर मिला है। वे सब शब्द-कोश अँगरेजी-हिन्दी के ही हैं। उनमें अँगरेजी के एक ही शब्द के लिए कोई कुछ पर्याय रखता है और कोई कुछ। एक बड़े कोश में Pragmatism के इतने अर्थ दिये हैं—व्यवहारवाद। कार्य-साधकतावाद। उपयोगितावाद। व्यावहारिक

सत्तावाद। क्रियावाद। अब यदि पाँच लेखक इनमें से हर एक का अलग-अलग व्यवहार करें, तो बेचारे पाठक क्या समझेंगे ? और इनमें से कौन सा ठीक माना और प्रचलित किया जाय ? कई बड़े-बड़े कोश देखने पर तो हमारी यह धारणा हुई है कि उनके सम्पादक अक्षर-क्रम से शब्द लगाना और शब्दों के शुद्ध रूप या हिज्जे तक नहीं जानते। एक अवसर पर एक समिति के सामने रखने के लिए लेखक ने आध घन्टे के अन्दर ऐसे आठ-दस कोशों में से बीसियों भद्दे, अशुद्ध और निरर्थक पर्याय ढूँढ़ निकाले थे। आप भी कोई कोश उठाकर वैसी भूलें देख सकते हैं। इस प्रकार के कोश तैयार करने का अधिकांश समय, परिश्रम और धन प्रायः व्यर्थ जाता है। यही कारण है कि इस प्रकार का एक कोश तैयार हो जाने पर लोग झट दूसरा कोश बनाने की आवश्यकता समझते हैं; और जब वह भी लोगों की दृष्टि में बे-कार होता है, तब तीसरा कोश बनाया जाता है। कोश तैयार करना हर आदमी का काम नहीं है। उसके लिए विशेष योग्यता, अनुभव और शब्द-ज्ञान की आवश्यकता होती है। हमारा नम्र निवेदन यही है उक्त कोश तैयार करने का काम बहुत समझ-बूझकर उठाना चाहिए; और उसके प्रत्येक अंग पर बहुत ही सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए।

अभी तक हमने जो कुछ कहा, वह संज्ञाओं और विशेषणों ही के सम्बन्ध में है। अब हम क्रियाओं के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहते हैं। अँगरेजी भाषा के संसार-व्यापी प्रचार का एक कारण यह भी है कि वह बहुत ही नमनशील या लचीली (जिसे कुछ लोग लचकीली भी कहते हैं!) भाषा है। उसमें प्रायः सभी संज्ञाओं के सहज में अकर्मक और सकर्मक रूप, विशेषण और क्रिया-विशेषण बन सकते हैं। क्रियाओं से संज्ञाएँ और विशेषण आदि बनाने के भी उसमें निश्चित और प्रायः सहज नियम हैं। यों अँगरेजी भाषा की हँसी उड़ाने के लिए हम भले ही कह लें कि यदि Boot से बहुवचन Boots बनता है तो Foot से Feet क्यों बनता है और Foots क्यों नहीं बनता; अथवा यदि He से सम्बन्धकारक में His बनता है तो She से Shis क्यों नहीं बनता! पर वास्तव में अँगरेजी बहुत ही सुलझी हुई भाषा है। हमारी प्राचीन संस्कृत भाषा में भी इस तरह का बहुत अधिक सुलझाव था, जिसका कुछ

अंश पुरानी हिन्दी ने भी पाया था। पर इधर कुछ दिनों से हम लोग उर्दू के प्रवाह में कुछ ऐसे बहे कि हम अपनी भाषा के कई गुण और कई अच्छी प्रवृत्तियाँ गँवा बैठे। यहाँ इसी विषय का कुछ विवेचन किया जायगा।

अभी हाल में बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने एक प्रसंग में कहा था कि हम संस्कृत में 'हिटलर' से 'हिटलरायते' तो बना सकते है, पर हिन्दी में 'हिटलराना' नहीं कह सकते। इस प्रकार उन्होंने मानों अपनी भाषा की एक त्रुटि की ओर संकेत किया था। मतलब यह था कि क्रियाएँ बनाने की ओर हमारा ध्यान अवश्य जाना चाहिए। अवधी और ब्रजभाषा दोनों में संज्ञाओं से बनी हुई बहुत सी क्रियाएँ भरी पड़ी हैं। जैसे आदर से आदरना (और निदरना भी) अनुसरण से अनुसरना, कादर से कदराना, अधिक से अधिकाना, ध्यान से ध्याना, कन्धा से काँधना आदि। यहाँ तक कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'गान' से 'गानना' क्रिया भी बनाई थी। यथा—

नर अरु नारि राम गुन गानहिं।

उर्दू के आरम्भिक इतिहास में भी, जब हमारी भाषा का उस पर पूरा पूरा प्रभाव था और उसने 'स्वतन्त्र' होने का प्रयत्न नहीं आरम्भ किया था, यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल रूप में काम करती थी। उस समय की बनी हुई गुजरना, कबूलना, बदलना आदि बहुत सी क्रियाएँ अब भी हिन्दी और उर्दू दोनों में प्रचलित हैं जो शायद जल्दी निकाले नहीं निकल सकतीं। उन्होंने 'फरमूदन' से 'फरमाना' तो बनाया ही था, 'बहस' से 'बहसना' भी बनाया था जो देहातों में अब भी कहीं-कहीं बोला जाता है। एक शेर है—

बहसने आया जो तुमसे आइना, आने भी दो।
खैर तुम अपनी तरफ देखो, चलो जाने भी दो॥

हमारे यहाँ भी 'बात' से 'बतराना' और 'बतियाना' बनता था जिसका 'बतलाना' रूप आज-कल कुछ और ही अर्थ में प्रचलित है। पर बाद में जब उर्दू पर 'फसाहत' सवार होने लगी और देशी भाषा के शब्द गँवारू कहे जाने लगे और छाँट-छाँटकर निकाले जाने लगे, तब संज्ञाओं से इस प्रकार की क्रियाएँ बनाने की प्रवृत्ति का भी अन्त होने लगा। राजकीय कृपा से कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उर्दू का बोल-बाला होने के कारण हम हिन्दीवाले भी अपनी भाषा उसी रंग

में रँगने लगे और इस प्रकार अपनी कई अच्छी बातों से हाथ धो बैठे। अब सुनते हैं कि हैदराबाद (दक्षिण) के उर्दू के कुछ प्रेमियों और प्रचारकों ने इस सम्बन्ध में एक नया आन्दोलन आरम्भ किया है। उनके ध्यान में भी यह बात आई है कि भाषा में संज्ञाओं से क्रियाएँ बनाने की शक्ति बढ़नी चाहिए। वे तो शायद अरबी और फारसी की संज्ञाओं से ही क्रियाएँ बनाना चाहेंगे; फिर भी उन्हें देशी भाषाओं की बहुत सी संज्ञाओं की शरण लेनी ही पड़ेगी। हमारे लिए इस प्रकार के नये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ पहले से बनी हुई बहुत सी ऐसी क्रियाएँ मौजूद हैं जिन्हें हम धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं। पहले हमें उन्हीं से आरम्भ करना चाहिए। 'उमंग में आना' (या भरना) से 'उमँगना' कहीं अच्छा है, और 'विकसित होना' से 'विकसना' में बहुत कुछ लाघव है। 'समुद्र लहरें मार रहा था।' से 'समुद्र लहरा रहा था।' कहीं सुगम और सुन्दर प्रयोग है। पहले हमें उन्हीं क्रियाओं को जिलाना चाहिए, जो हमारी उपेक्षा के कारण मर रही हैं। उदाहरणार्थ—साधना, सकारना, रुचना और उपजना आदि। उनके फिर से जी उठने और सचेष्ट होने पर आपसे-आप हमें नई क्रियाएँ बनाने के रास्ते मिलने लगेंगे। पर यह काम भी बहुत समझ-बूझकर होना चाहिए। यदि आरम्भ में ही हम 'हिटलराना' और 'चर्चिलाना' शुरू कर देंगे और कुछ ऐसी विलक्षण नई क्रियाएँ बनाने लग जायँगे जो देखने में भद्दी और भोंडी मालूम हों तो मानों यह मार्ग अच्छी तरह खुलने से पहले ही बन्द हो जायगा।

नये शब्दों की तलाश में चारों तरफ भटकने या भद्दे शब्द गढ़ने की अपेक्षा कहीं अच्छा यह है कि पहले हम अपने यहाँ की प्रान्तीय भाषाओं और स्थानिक हिन्दी बोलियों की तरफ निगाह दौड़ावें। हमारे यहाँ की ग्राम्य और स्थानीय बोलियों में बहुत से सुन्दर शब्द, पद, क्रियाएँ, भाव-व्यंजन की प्रणालियाँ और मुहावरे आदि भरे पड़े हैं, जिन्हें लोग धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। हमें उर्दू के एक दो बड़े कोशों में बहुत से ऐसे शब्द और मुहावरे मिले हैं जो हैं तो स्थानिक ही, पर बहुत ही सुन्दर और भाव-व्यंजक हैं। यद्यपि वे सभी ठेठ हिन्दी के और बिलकुल तद्भव शब्द हैं, पर उनमें एक विलक्षणता है। किसी समय उर्दू के अनेक कवि उनका खूब व्यवहार

करते थे और उन्हें अपने शेरों में स्थान देते थे। फिर जब वे लोग देशी भाषा के शब्दों को 'मतरूक' (परित्यक्त) कहकर छोड़ने लगे और उनके स्थान पर ढूँढ़-ढूँढ़कर अरबी-फारसी के शब्द रखने लगे, तब हमारी भाषा के वे शब्द जहाँ के तहाँ रह गये। हम हिन्दीवालों ने न तो कभी साहित्य में उन शब्दों का प्रयोग ही किया और न कभी उनकी सुध ही ली। परिणाम यह हो रहा है कि हमारे वे सब शब्द मरते जा रहे हैं। उनमें बहुतेरे ऐसे अच्छे शब्द और मुहावरे हैं जो इस समय हमारे लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार बुन्देलखण्डी, बघेली और बिहारी आदि बोलियों में भी बहुत से ऐसे शब्द हैं जो लिये जा सकते हैं। पर ऐसे शब्द लेते समय हमें अपनी भाषा की प्रकृति और उन शब्दों के स्वरूप का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। हमें ऐसे ही शब्द लेने चाहिएँ जिन पर स्थानिकता या गँवारपन की छाप न हो। और यदि हो भी तो वे शब्द सहज में शिष्ट हिन्दी के साँचे में ढाले जा सकें।

बहुत-से लोग यह कहते हैं कि हम जो कुछ बोलते हैं, वही लिखेंगे। यह बात कई दृष्टियों से ठीक नहीं है। बोलने में हम बहुत सी भूलें करते हैं, पर लिखने में ऐसा नहीं कर सकते। बोलने को तो हम 'दर असल में' 'बे-फजूल' और 'निखालिस' भी बोल जाते हैं। हमने कुछ लोगों को 'पसन्द' की जगह 'प्रसन्न' और कुछ लोगों को 'पसन्दी' भी बोलते हुए सुना है। मान्य या प्रतिष्ठित की जगह 'मानिन्द आदमी' भी बोलते हैं। पाचक और चूरनवाले कहते हैं, 'हाजमा हजम।' बनारस में 'तैयारी आम' बिकता है तो कलकत्ते में 'तैयारी कमीज और कुरते।' 'इन्तजार' की जगह 'इन्तजारी' का प्रयोग तो कुछ उर्दू कवि भी कर गये हैं। जैसे—'इन्तजारी ने तेरी खूब दिखाया लहरां।' और कुछ हिन्दीवाले भी यही भूल करते हैं। पर अब कुछ लोग 'इन्कार' की जगह 'इन्कारी' और 'मातहत' की जगह 'मातहती' भी लिखने लगे हैं जो बिलकुल अशुद्ध है। परन्तु क्या ये सभी प्रयोग हम साहित्य में रख सकते हैं! हम समझते हैं कि नहीं। साहित्य की भाषा में और बोल-चाल की भाषा में सदा सब जगह अन्तर रहता है और रहेगा। हाँ, साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा से बहुत दूर नहीं जा पड़नी चाहिए। साहित्य की

भाषा का रूप ऐसा तो नहीं होना चाहिए कि जन-साधारण से उसका कोई सम्पर्क ही न रह जाय; पर वह शिष्ट और नागरिक भी अवश्य होनी चाहिए।

हम पहले बतला चुके हैं कि विदेशी भाषाओं के कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका बहिष्कार हमारे लिए कठिन भी होगा और हानिकर भी। बहुत-से विदेशी शब्द तो हमें आवश्यकता-वश भी लेने पड़ेंगे। जो विदेशी शब्द हमारी भाषा में आकर पूरी तरह से घुल-मिल गये हैं, उनसे हम अलग अलग तरह के भाव प्रकट करने में सहायता ले सकते हैं। 'हवा' भी हमारी भाषा का प्रायः उतना ही आवश्यक अंग हो गया है जितना 'वायु' या 'पवन' है। इसी प्रकार और भी बहुत से शब्द हैं। अँगरेजी शब्दों में हमें जो सूक्ष्म अन्तर दिखाई देते हैं, वे अन्तर सूचित करनेवाले शब्द स्थिर करते समय ऐसे शब्द हमारे बहुत काम आ सकते हैं। एक बात और है। जब एक बार कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होने लग जाय, तब उसमें किसी तरह की छेड़-छाड़ ठीक नहीं। उदाहरणार्थ 'नर' और 'मादा' हैं तो विदेशी भाषा के शब्द ही, पर प्रायः सभी भारतीय भाषाओं और बोलियों में मिल गये हैं। फिर 'नर' शब्द उतना विदेशी भी नहीं है, क्योंकि वह हमारे यहाँ के संस्कृत 'नर' से ही निकलकर विदेशी भाषा में चला गया है और वहाँ से एक निश्चित अर्थ लेकर फिर हमारी भाषा में आ गया है। 'मादा' भी वस्तुतः 'मातृ' से ही निकला है। ये दोनों शब्द पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं आदि के लिंग के सूचक हो गये हैं। जैसा कि हम पहले एक अवसर पर बतला चुके हैं. यदि हम इनके स्थान पर 'पुरुष' और 'स्त्री' का प्रयोग आरम्भ कर दें तो वे शब्द अनेक स्थलों पर बहुत कुछ भ्रामक हो सकते हैं। जो कुछ हम ले चुके हैं, उससे हमें पूरा पूरा और ठीक तरह से काम लेना चाहिए। साथ ही हम यह बतला देना चाहते हैं कि फारसी भाषा से हमें विशेष द्वेष इस-लिए नहीं होना चाहिए कि वह भी प्राचीन संस्कृत की ही एक शाखा है। उसके बहुत से पुराने शब्द संस्कृत के उसी प्रकार तद्भव शब्द हैं, जिस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाओं के तद्भव शब्द हैं। फारसी में भी बहुत कुछ उसी प्रकार समास बनते हैं, जिस प्रकार संस्कृत में। फारसी के जिन शब्दों पर हमारी संस्कृत की स्पष्ट छाप है, वे वस्तुतः हमारे ही हैं, पराये नहीं हैं। हाँ,

अरबी शब्दों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह नितान्त भिन्न जाति की भाषा है और उसकी प्रकृति हमारी भाषा की प्रकृति से बिलकुल अलग है। विदेशी शब्द लेते समय हमें उनके मूल रूप का ध्यान छोड़कर उन्हें अपने यहाँ का रूप देना चाहिए। तकाजा, जुबान, सर, जहेज, खुर्दः, पर्दः, बैरक, टैंक, बॉम्ब आदि की जगह हमें तगादा, जबान, सिर, दहेज, खुदरा, परदा, बारिक, टंक और बम आदि रूप ही रखने चाहिएँ।

हिन्दी में विभक्तियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम या सिद्धान्त नहीं है। कुछ लोग सभी शब्दों के साथ विभक्तियाँ मिलाकर लिखने के पक्षपाती हैं और कुछ लोग केवल सर्वनामों के साथ उन्हें मिलाकर लिखते हैं; और बाकी शब्दों में अलग रखते हैं। आज-कल के कुछ ऐसे नये लेखक भी हैं जो यह जानते ही नहीं कि हिन्दी में विभक्तियों के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं! ऐसे लेखक दोनों में से किसी एक पक्ष के सिद्धान्त का भी ठीक तरह से पालन नहीं करते। कुछ दिन पहले हमारे समाचारपत्रों में इस विषय पर बहुत बड़ा विवाद छिड़ा था, जो बरसों तक चलता रहा। कोई सिद्धान्त तो स्थिर न हो सका, हाँ, विवाद इतना बढ़ा कि वह अपने पीछे कई क्षेत्रों में बहुत कटुता छोड़ गया। पर अब भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए एक सिद्धान्त स्थिर होना चाहिए। सदा के लिए इस विषय में दो पक्ष बने रहना वांछनीय नहीं है।

भाषा के बाद लिपि लीजिए। लिपि के सुधार का प्रश्न छिड़ने पर कुछ लोग बे-तरह चिढ़ और चौंक जाते हैं। वे समझते हैं कि यह हमारी संस्कृति पर आघात हो रहा है। हमने साक्षर ही नहीं बल्कि विद्वान कहलानेवाले कुछ लोगों को यह कहते सुना है कि हमारी लिपि की सभी बातें, जिनमें वर्णमाला का क्रम और अक्षरों के लिखे जानेवाले रूप भी सम्मिलित हैं, हजारों बरसों से इसी तरह और ज्यों की त्यों चली आ रही हैं; और हम प्राण रहते इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न होने देंगे! कुशल यही है कि इस प्रकार के उपयोगी कामों में बाधक होने के लिए प्राणों की बाजी लगानेवाले जीवों की हमारे यहाँ अधिकता नहीं है। फिर भी लिपि सम्बन्धी आवश्यकताओं का विवेचन करने से पहले हम ऐसे महानुभावों को एक-दो बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। पहली बात तो यह है कि इधर दो हजार वर्षों में हमारी वर्णमाला

और लिपि ने न जाने कितने उलट-फेर देखे हैं। इस बीच में अनेक नये अक्षर बढ़े हैं और कुछ पुराने अक्षर और उच्चारण छूट भी गये हैं। अक्षरों के लिखे जानेवाले रूपों में भी धीरे-धीरे बहुत से हेर-फेर हुए हैं और वे बहुत कुछ विकसित होने के बाद, सभी प्रान्तों में, अपने वर्तमान रूपों में आये हैं। अतः इस बात में कुछ भी तथ्य नहीं है कि हमारी वर्णमाला और लिपि अशोक-काल से इसी रूप में चली आ रही है। ऐसा कहकर तो हम अपने आपको विज्ञों के सामने उपहासास्पद ही बनाते हैं। अतः इस प्रकार की थोथी बातों को छोड़कर हमें लिपि-सम्बन्धी प्रश्नों पर शान्त भाव से विचार करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि वर्णमाला या अक्षरों का क्रम (जिसमें उनके उच्चारण भी सम्मिलित हैं) एक चीज है; और उनके लिखे जानेवाले रूप दूसरी चीज हैं। जहाँ तक वर्णमाला का सम्बन्ध है, वहाँ तक यह मानने में शायद किसी को आपत्ति न होगी कि देव-नागरी से बढ़कर पूर्ण और वैज्ञानिक अक्षरावली संसार की और किसी लिपि की नहीं है। आज-कल जिसे हम उर्दू लिपि कहते हैं, वह जहाँ जहाँ गई, वहाँ वहाँ उसमें कुछ नये चिह्न, कुछ नये अक्षर जोड़ने की आवश्यकता हुई। हमारे देश के ट, ड और ड़ सूचित करने के लिए उसमें ٹ (टे) ڈ (डाल) और ڑ (ड़े) जोड़नी पड़ी थी और महाप्राण अक्षर सूचित करने के लिए उसमें ھ (दो-चश्मी हे) बढ़ाई गई थी। उर्दू लिपि का सबसे अधिक सुधार सिन्धियों ने किया। उन्होंने महा-प्राण अक्षर लिखने के लिए यह 'दो-चश्मी हे' भी उड़ा दी। उन्हें 'छ' लिखना होता है तो चे (چ) में ही तीन की जगह चार नुकते लगा देते हैं; और 'थ' लिखना होता है तो 'ते' (ت) पर दो की जगह चार नुकते कर देते हैं। इस लिपि में ث (से) س (सीन) और ص (साद या स्वाद) और ذ (ज़ाल) ز (ज़े) ض (ज़ाद या ज़्वाद) और ظ (ज़ो) आदि जो बहुत-कुछ समान उच्चारणवाले अक्षर हैं, वे उस लिपि के भिन्न भिन्न देशों में पहुँचने पर वहाँ की अलग अलग आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ाये गये हैं। रोमन वर्णमाला में भी बहुत सी त्रुटियाँ हैं। उसमें जो गुण है, उसका विचार तो आगे होगा, पर यहाँ वर्णमाला की पूर्णता का प्रश्न है, इसलिए हमें पहले उसकी त्रुटियाँ ही

दिखानी पड़ती हैं। जहाँ तक वर्णमाला का सम्बन्ध है, वहाँ तक रोमन बहुत ही अपूर्ण है और उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं। केवल २६ अक्षर मनुष्य की भाषा लिखने के लिए कभी यथेष्ट नहीं हो सकते। उसकी इसी अपूर्णता और त्रुटियों के कारण जार्ज बर्नर्ड शॉ सरीखे जगत्-प्रसिद्ध विद्वान को कहना पड़ा था कि अँगरेजी भाषा में होनेवाले ४२ उच्चारणों के लिए जो आदमी ४२ अक्षरों की एक पूरी वर्णमाला तैयार कर दे, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति देने को तैयार हूँ। हमारी देवनागरी की सबसे बड़ी तारीफ यही है कि उसमें वे त्रुटियाँ बिलकुल नहीं हैं जो उर्दू या रोमन आदि लिपियों में हैं। इसी लिए एक सज्जन ने बर्नर्ड शॉ के उत्तर में कहा था कि क्यों न अँगरेजी भाषा भी देवनागरी वर्णमाला ग्रहण कर ले? यह प्रस्ताव है तो बहुत समीचीन, पर निकट भविष्य में इसके कार्यान्वित होने की कोई आशा नहीं है। पर सचमुच हमारी वर्णमाला हमारे लिए बहुत बड़े अभिमान की चीज है।

परन्तु हमें इस अभिमान के कारण फूलकर ही नहीं रह जाना चाहिए। हमें फिर भी यह देखना चाहिए कि उसमें कहीं कोई कमी तो नहीं है। और यदि अच्छी तरह विचार करने पर हमें उसमें कोई कमी दिखाई दे तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें अपनी वर्णमाला का तो पूरा-पूरा मोह होना चाहिए, पर अक्षरों के लिखे जानेवाले रूपों का फालतू मोह नहीं होना चाहिए। अक्षरों के रूप पर विचार करते हुए हम यह बतलाना चाहते हैं कि हमारी वर्णमाला में किन बातों की कमी है।

आज-कल प्रतियोगिता का युग है। सब चीजें मुकाबले में देखी जाती हैं। और किसी लिपि-प्रणाली के मुकाबले में तो शायद नहीं, पर रोमन लिपि-प्रणाली के मुकाबले में हमारी लिपि, छापेखाने और टाइप-राइटर की दृष्टि से भी और लिखाई के सुभीते के विचार से भी, बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य है। उर्दू का यहाँ हमने जान-बूझकर इसलिए नाम नहीं लिया कि एक तो उसकी सदोषता सभी लोग जानते हैं; और दूसरे वह एक प्रकार की संक्षेप लिपि-प्रणाली ही है। उसमें पूरे अक्षर प्रायः लिखे ही नहीं जाते, अधूरे और संक्षिप्त रूप में लिखे जाते हैं; और जहाँ पूरे अक्षर लिखे जाते हैं, वहाँ भी वे पाठकों के मन में भ्रम उत्पन्न किये बिना नहीं रहते। यदि उसमें लिखा जायगा—

'बुक-डिपो' तो पढ़ा जायगा—'बकड-पो' और यदि लिखा जायगा—'जवाब तक नहीं मिला।' तो पढ़ा जायगा 'जो अब तक नहीं मिला।' स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने एक अवसर पर बतलाया था कि उर्दू में लिखा हुआ एक ـل۰ शब्द शायद बारह या सोलह तरह से पढ़ा जा सकता है। अतः उसका विचार छोड़कर हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

रोमन अक्षरों की बनावट ऐसी होती है कि उनके बहुत ही छोटे अक्षर भी सहज में पढ़े जा सकते हैं। पर देव-नागरी के उतने छोटे अक्षर सिर्फ इसलिए नहीं ढलते कि वे उस आकार में पढ़े ही नहीं जा सकते। हमारे अक्षरों की बनावट इतनी पेचीली होती है कि विवश होकर उनके कुछ बड़े आकार के टाइप ढालने पड़ते हैं। फल यह होता है कि अँगरेजी के एक पृष्ठ का अनुवाद साधारणतः हिन्दी के दो पृष्ठों में छपता है। अँगरेजी में जो पुस्तक दो सौ पृष्ठों की हो, हिन्दी में वह चार सौ पृष्ठों की होगी। स्वयं अपने और कांग्रेस पर लगाये हुए सरकारी अभियोगों का जो उत्तर महात्मा गांधी ने दिया था (१९४४), वह अँगरेजी दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' ने तो अपने दो ही पृष्ठों में छाप डाला—चाहे बहुत ही छोटे अक्षरों में क्यों न छापा हो—पर हमारे यहाँ उतने छोटे अक्षर किसी तरह बन ही नहीं सकते। और जितने बड़े अक्षर बन सकते हैं, या बनते हैं, उनमें यदि उस उत्तर का अविकल अनुवाद छापा जाय तो शायद उस आकार के छः पृष्ठों में भी पूरा न आवे। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें उतना ही काम करने के लिए अँगरेजी की अपेक्षा तिगुने व्यय, परिश्रम और समय की आवश्यकता होगी। यदि इस दृष्टि से विचार करने पर भी हिन्दीवालों को अपने अक्षरों के रूप त्रुटिपूर्ण न जान पड़ें तो फिर हमें और कुछ नहीं कहना है।

अब टाइप-राइटर की दृष्टि से विचार कीजिए। जो कठिनाई छापे के सम्बन्ध में है, यद्यपि बहुत कुछ वही कठिनाई टाइप-राइटर के सम्बन्ध में भी है। पर वह कठिनाई इस दृष्टि से कुछ कम हो जाती है कि अँगरेजी में तो सभी अक्षर छोटे और बड़े दो तरह के होते हैं, पर हिन्दी में वे एक ही तरह के होते हैं। परन्तु एक दूसरी दिशा से कठिनाई इसलिए फिर ज्यों की त्यों

हो जाती है कि हमारे यहाँ के अधिकांश अक्षर पूरे भी होते हैं और दूसरे अक्षरों से संयुक्त होने के लिए आधे भी होते हैं। अतः बात फिर जहाँ की तहाँ आ जाती है।

छापे और टाइप-राइटर की कठिनाइयाँ हमारे अक्षरों की विलक्षण बनावट के कारण ही होती हैं; और उनकी वह विलक्षणता हाथ से लिखने के समय ज्यों की त्यों ही नहीं बनी रहती, बल्कि कुछ और भी बढ़ जाती है। एक 'क' लिखने के लिए पहले ऊपर शीर्ष रेखा लगाइए, फिर बीच में एक खड़ी पाई लगाइए, फिर एक तरफ एक वृत्त-सा बनाइए और तब दूसरी तरफ एक छोटी बेड़ी पाई लगाकर उसे नीचे की तरफ ले जाकर खड़ी पाई बनाइए! एक अक्षर लिखने में इतने कृत्य! इसी लिए अब कुछ लोग शीर्ष रेखा छोड़कर लिखने लग गये हैं, जिससे कुछ तो समय और श्रम बचता ही है। पर बदले में अक्षरों की सुन्दरता कम हो जाती है।

हम यह तो नहीं कह सकते कि हमें रोमन-लिपि ग्रहण कर लेनी चाहिए, क्योंकि वह तो आप ही अनेक दोषों से युक्त है। उसे लेकर हम क्या करेंगे! पर हाँ, यदि किसी प्रकार हम भी उससे कुछ मिलती-जुलती लिपि-प्रणाली निकाल सकें तो फिर हम दावे के साथ कह सकेंगे कि हमारी लिपि सभी दृष्टियों से ठीक वैसी ही पूर्ण है, जैसी पूर्ण हमारी वर्णमाला है। उस अवस्था में संसार की और कोई लिपि इसका मुकाबला न कर सकेगी; और इसका बहुत अधिक प्रचार होगा। यह विषय ऐसा है जो देश-भर के विद्वानों के लिए विशेष रूप से विचारणीय है।

लिपि-सुधार की एक योजना हमारे सामने है जो वर्धा योजना के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें मुख्य बात यही है कि स्वरों के लिए अलग चिह्न नहीं रखे गये हैं। एक 'अ' में ही स्वरों की मात्राएँ लगाकर काम निकाला जाता है। चाहे शिक्षा (वेदांग) के विचार से यह प्रणाली भले ही कुछ दूषित सिद्ध की जा सके, पर सुभीते और उपयोगिता का ध्यान रखते हुए वह दोष क्षम्य ही माना जायगा। और फिर जब 'ओ' और 'औ' लिखा ही जाता है, तब 'अि' और 'अी' क्यों न लिखा जाय? वर्धा-वाली योजना कोई बिलकुल नई चीज भी नहीं है। हमारे यहाँ के प्राचीन

हस्त-लिखित ग्रन्थों में भी उसका प्रयोग प्रायः देखने में आता है। जैसे—
सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा। आदि।

इस प्रणाली से छापे की कुछ कठिनाइयाँ अवश्य दूर हो जाती हैं, और इसी लिए अब धीरे-धीरे इसका प्रचार हो रहा है। यदि यह प्रणाली सारे देश में अपना ली जाय तो कोई हर्ज नहीं है। कुछ लोगों ने इसमें भी और सुधार किये है, पर वे अभी सबके सामने नहीं आये हैं।

इधर कुछ दिनों में हमने अपनी लिपि-प्रणाली में कुछ छोटे-मोटे सुधार किये भी हैं। अँगरेजी के Hall और Paul सरीखे शब्द अब हम मराठीवालों की तरह 'हॉल' और 'पॉल' लिखने लगे हैं। अब हम 'अङ्ग' या 'अङ्ग' की जगह 'अंग', 'पङ्क्ति' या 'पङ्क्ति' की जगह 'पंक्ति' और 'चञ्चल' की जगह 'चंचल' ही लिखते हैं। 'सङ्ग्रह' शब्द लिखने में भी, पढ़ने में भी और छापे की दृष्टि से भी बहुत कठिन है, इसलिए सब लोग 'संग्रह' ही लिखते हैं। जब इसमें 'शिक्षा' बाधक नहीं होती, तो वर्ण-प्रणाली में भी उसे बाधक न होना चाहिए।

कुछ स्वरों में एक दो नये चिह्नों की आवश्यकता प्रतीत होती है। हिन्दी के 'और' का उच्चारण कुछ और तरह का होता है और संस्कृत के 'गौर' का और तरह का। स्वयं 'और' ही पश्चिम में कुछ और तरह से बोला जाता है, पूरब में कुछ और तरह से। उसका पूर्वी उच्चारण बहुत कुछ 'अउर' से मिलता-जुलता होता है। यही बात 'ऐसा' और 'दैनिक' या 'खैर' और 'दैत्य' के उच्चारणों के सम्बन्ध में भी है। 'ऐसा' का उच्चारण बहुत कुछ 'अयसा' के समान और 'खैर' का 'खयर' के समान तथा 'दैनिक' का उच्चारण बहुत कुछ 'दइनिक' के समान तथा 'दैत्य' का 'दइत्य' के समान होता है। अँगरेजी में Bell और Tell आदि का उच्चारण और तरह का होता है और Bale और Tale आदि का उच्चारण कुछ और तरह का। अर्थात् एक ही मात्रा में ह्रस्व और दीर्घ के-से कुछ भेद होते हैं। कुछ विशेष अवस्थाओं में हमें इनके सूचक चिह्नों की बहुत आवश्यकता होती है। इस प्रकार के भेद सूचित करने के लिए कुछ लोगों ने बँगला के एक चिह्न से काम लेना आरम्भ किया है और वे 'बॆल' 'टॆल' आदि लिखने

लगे हैं। पर अभी इसका प्रचार बहुत कम हुआ है। इसके सिवा कविता में भी कहीं-कहीं कुछ मात्राएँ कुछ खिंचे हुए या संकुचित रूप में पढ़ी जाती हैं। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में स्व० बा० जगन्नाथदास रत्नाकर के आग्रह से यह भेद सूचित करने के लिए निम्नलिखित प्रणाली का अनुसरण किया गया है—

तेरैं लाल मेरो माखन खायो।

पर यह प्रणाली छापे के विचार से बहुत कुछ दूषित है। इसमें अक्षरों की पंक्ति के नीचे चिह्नों की एक नई पंक्ति लगाने की आवश्यकता होती है, जिससे समय भी अधिक लगता है और स्थान भी। इसी लिए इसका प्रचार नहीं हो सकता। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि लिपि की दृष्टि से हमें कुछ ऐसे चिह्नों की बहुत बड़ी आवश्यकता है, जो छापे की दृष्टि से सुगम हों।

पिछले प्रकरण में अनुस्वार और चन्द्र-विन्दु के प्रसंग में हम बतला चुके हैं कि ठीक-ठीक उच्चारण बतलाने के लिए 'क्यों' 'नहीं' और 'हैं' आदि में भी अनुस्वार नहीं बल्कि चन्द्र-विन्दु ही होना चाहिए। पर इसके लिए चन्द्र-विन्दु से युक्त जो मात्राएँ बनती हैं, वे बहुत जल्दी टूट जाती हैं और थोड़े ही समय में निरर्थक हो जाती हैं। अतः लिपि का सुधार करते समय हमें इस तत्त्व का भी ध्यान रखना चाहिए; और इनके सूचक चिह्न कुछ इस ढंग से बनाने और लगाने चाहिएँ कि वे जल्दी टूटें नहीं और सब अक्षरों के बराबर ही चल सकें।

इस प्रकरण में भाषा और लिपि की जो आवश्यकताएँ बतलाई गई हैं, वे विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ और आवश्यकताएँ भी हो सकती हैं। पर उन आवश्यकताओं का विवेचन करने से पहले अधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न होना चाहिए। बस इसी दृष्टि से यह विषय विचारवानों के सामने उपस्थित किया जा रहा है। आशा है, बड़े-बड़े विद्वान इन विषयों पर पूरा-पूरा विचार करेंगे; और यदि इन्हें आवश्यक समझेंगे तो इनके सुधार के मार्ग भी निकालेंगे।

परिशिष्ट

['हिन्दी की प्रकृति' शीर्षक यह प्रकरण इसी पुस्तक के अन्तर्गत रखने के लिए लिखा गया था। पर कुछ कारणों से पं० बाबूराव जी पराड़कर के परामर्श के अनुसार यह परिशिष्ट के रूप में दिया जा रहा है। इसके अन्त में पराड़कर जी भी अपनी ओर से कुछ बातें टिप्पणी के रूप में बढ़ाना चाहते थे; पर खेद है कि अस्वस्थता के कारण वे ऐसा न कर सके। संभव है, अगले संस्करण तक हमें उनके कुछ मूल्यवान् विचार भी प्राप्त हो जायँ। आशा है, हिन्दी के विद्वान् इस विषय पर अच्छी तरह विचार करेंगे और यह विवेचन कुछ और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। — लेखक।]

हिन्दी की प्रकृति

आपने बहुत से फूल देखे होंगे और बहुतेरे सूँघे भी होंगे। यदि आपसे उन फूलों में से किसी के रूप-रंग या आकार-प्रकार आदि का वर्णन करने के लिए कहा जाय, तो आप बतला भी सकेंगे कि वह बड़ा होता है या छोटा, सफेद होता है या लाल, गोल होता है या लंबोतरा, आदि। इस प्रकार एक बड़ी सीमा तक उस फूल का बर्णन करने में आप समर्थ होंगे। परन्तु यदि आपसे उस फूल की गन्ध का वर्णन करने के लिए कहा जाय तो? बहुत सम्भव है कि आप चक्कर में पड़ जायँ और उसकी गन्ध का ठीक-ठीक वर्णन न कर सकें। कारण यह है कि फूल तो मूर्त्त वस्तु है, परन्तु उसकी गन्ध अमूर्त्त। मूर्त्त वस्तु का वर्णन करना बहुत कुछ सुगम होता है। परन्तु अमूर्त्त वस्तु के वर्णन के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसका ठीक-ठीक वर्णन बहुत ही कठिन और प्रायः असंभव होता है।

भाषा भी जब तक बोली जाती है, तब तक बिलकुल अमूर्त्त रहती है। पर लिपि की सहायता से उसे बहुत-कुछ मूर्त्त रूप दिया जाता है। भाषा-

सम्बन्धी जो वर्णन या विवेचन देखने में आते हैं, वे सब उसके इसी 'बहुत-कुछ मूर्त्त रूप' के आधार पर होते हैं। चाहे व्याकरण हो, चाहे अलंकार शास्त्र हो और चाहे भाषा विज्ञान हो, सभी भाषा के इस 'बहुत-कुछ मूर्त्त रूप' पर अवलंबित हैं। जिस अवस्था में भाषा केवल बोली जाती थी और लिखी-पढ़ी नहीं जाती थी, उस अवस्था में उसके उक्त प्रकार के विवेचन भी नहीं, अथवा नहीं के समान, होते थे। आप कह सकते हैं कि हम जबानी सुनकर भी उसके उक्त प्रकार के विवेचन कर सकते हैं। परन्तु हमारा अभिप्राय इससे भिन्न है। आज आप जो ऐसे विवेचन कर सकते हैं, वह इसी कारण कि आप पढ़े-लिखे आदमी हैं और भाषा के मूर्त्त स्वरूप से परिचित हैं। जिन दिनों आदमी लिखे-पढ़े नहीं होते थे, उन दिनों इस प्रकार के विवेचन भी नहीं होते थे। जब आदमी लिखने और पढ़ने लगे, तब वे धीरे-धीरे इस प्रकार के विवेचन करने लगे। तात्पर्य यह कि जब लिपि ने भाषा को बहुत कुछ मूर्त्त रूप दिया, तब जाकर वह विवेच्य हुई। तभी से भाषा-सम्बन्धी नियम भी बनने लगे और अलंकरण भी; और उसके गुण-दोषों और जाति-भेदों आदि का विवेचन भी होने लगा।

फिर भी एक बात रह ही गई। आप फूल का तो वर्णन कर सके, पर उसकी गन्ध का वर्णन रह ही गया। जो भाषा हम और आप नित्य लिखते-पढ़ते और बोलते-चालते हैं, वह फूल है। परन्तु उसकी प्रकृति उस श्रेणी की वस्तु है, जिस श्रेणी की फूलों की गन्ध, प्राणियों का जीवन अथवा अन्यान्य वस्तुओं की प्रकृति है। भाषा का विवेचन तो सहज है; परन्तु उसकी प्रकृति का वर्णन या निर्देश ! वह हमारी शक्ति के बहुत-कुछ बाहर की बात है। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आ ही जाते हैं, जब मनुष्य असाध्य-साधन में भी प्रवृत्त होता है। ईश्वर हो या न हो, हमसे उससे मतलब ? पर नहीं, हम जबरदस्ती उसके पीछे पड़ते हैं, अपनी ओर से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं; और किसी-न-किसी प्रकार उसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करते हैं। यह सब लोगों का काम नहीं है। बड़े-बड़े समर्थ ही इसे हाथ में लेते हैं। धीरे-धीरे अन्धकार दूर होने लगता है और प्रकाश की कुछ रेखाएँ दिखाई देने लगती हैं। प्रकाश की उन्हीं अस्पष्ट या धुँधली रेखाओं के सहारे कुछ

लोकोत्तर शक्तिवाले लोग और आगे बढ़कर उसका साक्षात्कार भी कर लेते हैं। और तब वे दूसरों को उसके सम्बन्ध की मुख्य-मुख्य बातें बतलाकर लोक-कल्याण का मार्ग सुगम करते हैं।

हमारी और आपकी समझ में किसी फूल की गन्ध का ठीक-ठीक वर्णन करना प्रायः असम्भव है। परन्तु पुष्प-विज्ञान के पंडितों के लिए यह कार्य हम लोगों की अपेक्षा बहुत-कुछ सुकर है। उन्होंने गन्धों के प्रकार और भेद आदि निश्चित कर रखे हैं; और न जाने कितनी और बातें सोच-समझ रखी हैं। कोई नया फूल देखकर पुष्प-विज्ञान का एक ज्ञाता दूसरे ज्ञाता को बिना वह फूल सुँघाये ही उसकी गन्ध की बहुत-कुछ ठीक कल्पना करा सकता है। परन्तु वही बात यदि हमारे-आपके सामने कही जाय तो हम लोग कुछ भी न समझ सकेंगे।

परन्तु ईश्वर या पुष्प-गन्ध के सम्बन्ध में जो बातें आज कुछ खास लोगों को मालूम हैं, वे सब एक ही दिन की मेहनत की करामात नहीं हैं। ईश्वर का पता लगाने में न जाने कितनें युग बीते होंगे और फूलों की गन्ध के विवेचन में न जाने कितने जीवन निछावर हुए होंगे। आज इस संबंध में जितना काम हुआ है और जितना ज्ञान संचित हुआ है, आरंभ में शायद लोगों को उसका अणु-परमाणु भी न मिला होगा। पर उन्हें जो कुछ मिला था, उसे बादवालों ने विकसित और पल्लवित किया। बस, धीरे-धीरे ज्ञान की एक राशि-सी प्रस्तुत हो गई।

इच्छा न होते हुए भी विषय का कदाचित् आवश्यकता से अधिक विस्तार हो गया। अब प्रकृत विषय लीजिए।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अथवा पदार्थ की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की भी कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है। और जिस प्रकार स्थान और जल-वायु या देश-काल आदि का मनुष्यों के वर्गों अथवा जातियों आदि की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार बोलनेवालों की प्रकृति का उनकी भाषा पर भी बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भाषा की प्रकृति पर उसे बोलनेवालो की प्रकृति की बहुत-कुछ छाया रहती है। यह प्रकृति उसके व्याकरण, भाव-व्यंजन

की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों या बनावटों आदि में निहित रहती है। इस प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान उन्हीं को होता है, जो उस भाषा की उक्त सभी बातों का बहुत ही सावधानता-पूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते हैं और उसकी हर एक बात पर पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। भाषा की प्रकृति या वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही 'जबानदानी' कहलाता है। यह जबानदानी और कुछ नहीं, भाषा के नियमों, प्रवृत्तियों और मूल तत्वों का पूरा ज्ञान ही है। पर यह ज्ञान इसलिए बहुत ही थोड़े आदमियों को होता है कि 'वाणी' बहुत ही पवित्र नारी के समान है—वह अपने अंग केवल अधिकारी को दिखाती है, हर किसी को नहीं[१]। जो लोग 'वाणी' या भाषा के सब अंगों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें पहले अधिकारी बनना चाहिए। मनुष्यों अथवा पदार्थों की प्रकृति का तो बहुत-कुछ अनुशीलन और विवेचन हुआ है और होता रहता है, पर भाषा की प्रकृति की ओर कदाचित् बहुत ही कम लोगों का ध्यान जाता है।

आप कहेंगे कि किसी भाषा का व्याकरण यदि उसकी प्रकृति का विवेचन नहीं है, तो और क्या है? परन्तु हमारी बुद्धि इसे ग्रहण नहीं करती। व्याकरण भाषा की रचना या संघटन का परिचायक है, प्रकृति का नहीं। जैसे वास्तु-शास्त्र मकान बनाने के नियम या ढंग बताता है, उसकी प्रकृति का विवेचन नहीं करता, उसी प्रकार व्याकरण भी भाषा का निर्माण बताता है, प्रकृति नहीं। प्रत्येक भाषा की प्रकृति उस भाषा के व्याकरण से बिल्कुल भिन्न और स्वतंत्र होती है। व्याकरण तो उन्हीं बातों का विचार करता है जो उसकी प्रकृति की क्रियात्मक अभिव्यक्ति के कारण हमारे सामने आती हैं। हाँ, व्याकरण के नियमों और तथ्यों का

१—स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उर्दू और हिन्दी के अन्तर का विवेचन करते हुए लिखा है—'इसी प्रकार (उर्दू वाले) यह न कहकर कि—'उसने एक नौकर से पूछा।' कहते हैं—'एक नौकर से उसने पूछा।' यह है भाषा की प्रकृति की परख। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात बिलकुल साधारण कथन के सम्बन्ध में कही गई है, ऐसे कथन के सम्बन्ध में नहीं, जिसमें किसी विशेष शब्द या पद पर जोर दिया जाता है।

विचार करके हम उस प्रकृति का कुछ-कुछ परिचय पा सकते हैं। भाषा-विज्ञान में और-और बातों के साथ भाषाओं की प्रकृति का भी कुछ विवेचन अवश्य होता है; और उसका तुलनात्मक अध्ययन भी हमें किसी भाषा की प्रकृति से परिचित कर सकता है। फिर भी भाषा की प्रकृति है बिलकुल अलग चीज।

हम नहीं कह सकते कि अन्यान्य उन्नत भाषाओं में उनकी प्रकृति के विवेचन का कुछ प्रयत्न हुआ है या नहीं; और यदि हुआ है तो कैसा और कितना हुआ है। पर हिन्दी में तो कहीं नहीं हुआ। जो काम आज तक किसी ने न किया हो, उसका श्रीगणेश सुविज्ञ विद्वानों और विचारशीलों को ही करना चाहिए—हम सरीखे अल्पज्ञों को नहीं। परन्तु हिन्दी के भाषा-सम्बन्धी गुण-दोषों पर बहुत दिनों तक निरन्तर विचार करते रहने पर हम इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचे हैं कि प्रत्येक भाषा की एक स्वतंत्र प्रकृति होती है। उस प्रकृति का स्वरूप हम चाहे पहचान सकें और चाहे न पहचान सकें, परन्तु वह होती अवश्य है; और कभी-कभी हमें अपनी झलक दिखला जाती है। न तो हमें अभी तक उस प्रकृति की कल्पना हुई है और न हमने कभी उसकी ओर ध्यान ही दिया है। ईश्वर का अस्तित्व माननेवाले कहते हैं कि वह समय-समय पर मनुष्यों के सामने किसी न किसी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है। उसी अभिव्यक्ति के सामूहिक ज्ञान ने क्रमशः हमारे मन में ईश्वर की कल्पना उत्पन्न कर दी है। आज-कल के वैज्ञानिक कहते हैं कि मंगल ग्रह में कुछ ऐसे प्राणी बसते हैं जो बुद्धि में हमसे बहुत बढ़े हुए हैं और जो बहुत दिनों से संकेत द्वारा हमसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। मंगल ग्रह से तो इस पृथ्वी के निवासी बहुत दिनों से परिचित हैं और यहाँ के कुछ लोग बहुत दिनों से मंगल सम्बन्धी बातों का अनुशीलन भी कर रहे हैं। यही अनुशीलन करते समय कभी-कभी उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ से हमसे कोई बातें करना चाहता है। हो सकता है कि इस क्षेत्र में निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर कभी कुछ सफलता भी हो जाय। कुछ इसी से मिलती-जुलती बात भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में भी है; और यदि है नहीं तो कम से कम हो सकती है।

भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारी भावना नितान्त काल्पनिक या निराधार नहीं है। उसका कुछ ऐतिहासिक और पुष्ट आधार भी है। यह तो सभी लोग जानते हैं कि बहुत दिन पहले उत्तरी भारत में दो भाषाएँ मुख्य रूप से प्रचलित थीं—शौरसेनी और मागधी। आज-कल की पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी है और पूर्वी या बिहारी हिन्दी तथा बँगला और उड़िया आदि भाषाएँ मागधी से निकली हुई हैं। शौरसेनी और मागधी में बहुत-कुछ प्रकृतिगत भेद था, इसी लिए पहले कुछ विद्वान् उन्हें 'अंतरंग' और 'बहिरंग' भाषाएँ कहा करते थे। हमारे यहाँ की भाषा विज्ञान सम्बन्धी कई पुस्तकों में भी यही नाम आये हैं। पर बाद की नई खोजों से पता चला कि ये वास्तव में किसी एक भाषा के दो भिन्न स्वरूप नहीं हैं, बल्कि आर्यों की ऐसी दो भिन्न शाखाओं की भाषाएँ हैं जो अलग अलग समय में आकर इस देश में बसी थीं। उन दोनों शाखाओं के आचार-विचार आदि में बहुत-कुछ अन्तर था; और इसी लिए दोनों की भाषाओं में भी प्रकृति-गत भेद था। यह ठीक है कि इन दोनों ही शाखाओं के आर्यों ने समान रूप से प्राचीन हिन्दी साहित्य की रचना की थी; और इसी लिए हो सकता है कि पुरानी हिन्दी में दोनों ही प्रकृतियाँ मिलती हों। हिन्दी के आधुनिक साहित्य के संबंध में भी बहुत कुछ यही बात है। फिर भी अब तो हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है—आस-पास की अन्यान्य भाषाओं से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है; और इसी लिए उसकी प्रकृति भी स्वतन्त्र है। हम विद्वानों से प्रार्थना करते हैं कि वे इस विषय पर भी कुछ विचार करें और हिन्दी की प्रकृति पहचानने और निश्चित करने का प्रयत्न करें। हम अपने वास्तविक कर्तव्य की इतिश्री इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने तक ही समझते हैं।

बिलकुल आरम्भिक अवस्था में जब किसी चीज का वर्णन किया जाता है, तब प्रायः समानताओं या सदृश वस्तुओं से ही काम लिया जाता है। यदि किसी लड़के ने गौ तो देखी हो, पर घोड़ा या गधा न देखा हो, तो उसे बतलाया जाता है कि वह भी गौ की ही तरह चार पैरोंवाला पशु होता है। जब हमें कोई मित्र कहीं से लाकर कोई नया फल देते हैं और हमारे चखने पर उसका स्वाद पूछते हैं, तब हम कोई ऐसा फल ढूँढ़ निकालना चाहते हैं

जिसका स्वाद उस नये फल के स्वाद से मिलता-जुलता हो। ऐसी अवस्थाओं में सादृश्यवाला तत्त्व ही हमारा सबसे बड़ा सहायक होता है। हम भी एक बिलकुल नये, अछूते और अनजान क्षेत्र में उतर रहे हैं; अतः हमें भी इसी सादृश्य या तुलना का सहारा लेना पड़ेगा। हमें देखना होगा कि हमारी हिन्दी किन बातों में आस-पास की किन भाषाओं से कहाँ तक मिलती है और किन बातों में कहाँ से अलग है। जो बातें आस-पास की भाषाओं में समान रूप से मिलें, उनके सम्बन्ध में हमें यह मानना पड़ेगा कि वे उन भाषाओं की सर्व-सामान्य प्रकृति की सूचक हैं; और इस प्रकार के तुलनात्मक विचार से जो बातें हमें अन्य भाषाओं से भिन्न जान पड़ेंगी, उन्हें हम हिन्दी की विशेष प्रकृति के अन्तर्गत मानेंगे। जब कुछ दिनों तक बड़े बड़े विद्वान् इसी प्रकार का अध्ययन और विचार करते रहेंगे, तब किसी दिन हिन्दी की सम्पूर्ण प्रकृति भी लोगों के सामने स्पष्ट रूप में आ जायगी। इतने विवेचन के उपरान्त अब पाठकों ने अच्छी तरह समझ लिया होगा कि 'हिन्दी की प्रकृति' से हमारा क्या अभिप्राय है। वह प्रकृति और कुछ नहीं, हमारी भाषा के वे मूल तत्त्व हैं, जिनके आधार पर वह खड़ी हुई है, चल रही है और आगे चलकर विकसित तथा उन्नत होगी।

भाषा की प्रकृति भी बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति के समान होती है। मनुष्य वही चीज खा और पचा सकता है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। यदि वह प्रकृति-विरुद्ध चीजें खाने और पचाने का प्रयत्न करे तो यह निश्चय है कि या तो उसे सफलता ही न होगी और या वह बीमार पड़ जायगा। भाषा भी वही तत्त्व ग्रहण कर सकती है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। उसकी प्रकृति के विरुद्ध जो तत्त्व होंगे, वे यदि जबरदस्ती उसके अन्तर्भुक्त किये जायँगे तो उसका स्वरूप विकृत हो जायगा। जिस प्रकार मनुष्य को दूसरों से बहुत-कुछ सीखने-समझने और लेने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भाषा को भी आवश्यकता होती है। जो जातियाँ दूसरों के आचार-विचार और सभ्यता तथा संस्कृति की बहुत अधिक बातें बिना समझे बूझे और बिना अपने स्वरूप का ध्यान रखे ग्रहण करती चलती हैं, वे बहुत जल्दी अपना स्वरूप ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र अस्तित्व तक गँवा बैठती हैं।

यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी है। हमें भी भाषा के क्षेत्र में दूसरों से सभी अच्छी बातें ग्रहण करनी चाहिएँ, परन्तु आँखें बन्द करके नहीं, प्रकृति सम्बन्धी इस तत्त्व का ध्यान रखकर।

भाषा का यह प्रकृति-तत्त्व ही उसकी जान होता है। यह तत्त्व प्राकृतिक होता है, कृत्रिम नहीं हो सकता। यही कारण है कि मेज-कुरसियों की तरह भाषा कभी गढ़ी नहीं जा सकती। पाश्चात्य देशों के अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने समय-समय पर कई बार ऐसी भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया जो सारे संसार में नहीं तो कम-से-कम उसके बहुत बड़े भाग में तो बोली और लिखी-पढ़ी जा सके। ऐसी भाषाओं में एस्पिरेन्टो (Esperanto) नामक भाषा बहुत प्रसिद्ध है, जिसके प्रचार के लिए भगीरथ प्रयत्न किये गये, फिर भी जो न चल सकी। एस्पिरेन्टो से भी पहले वोलापुक (Volapuk) नाम की एक भाषा गढ़ी गई थी; और इन दोनों के बाद रूस में ईडियान न्यूट्रल (Idion Neutrel) नाम की भाषा गढ़ने का प्रयत्न किया गया था। ये भाषाएँ इसी लिए नहीं चल सकीं कि ये प्राकृतिक नहीं थीं—इनमें जान नहीं थी। आज-कल जो लोग हिन्दी और उर्दू के मिश्रण से 'हिन्दुस्तानी' नाम की नई भाषा गढ़ना चाहते हैं, उन्हें भी इसी कारण सफलता नहीं हो रही है और न हो सकेगी। उर्दू या हिन्दी में से किसी एक को अपनी प्रकृति या प्राण छोड़कर दूसरी में लीन होना पड़ेगा, तभी एक भाषा होगी। नहीं तो दोनों स्वतन्त्र रहेंगी और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर फलें-फूलेंगी। उर्दू ने अरबी-फारसी के शब्द ही नहीं ग्रहण किये हैं, बल्कि उनकी प्रकृतियों के कुछ अंश भी ग्रहण किये हैं; और हिन्दी की टहनी पर उन प्रकृतियों के मानो पैवन्द लगाये हैं। इसी लिए वह कलमी आमों की तरह कलमी भाषा बन रही है।

हम पहले कह चुके हैं कि भाषा की प्रकृति उसके शब्दों की बनावट, भाव व्यक्त करने की प्रणालियों, क्रियाओं और मुहावरों आदि से प्रकट होती है। जो लोग इन सब बातों का सदा पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं, वही समझ सकते हैं कि कौन सी बात हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल है और कौन सी प्रतिकूल। मतलब यह कि भाषा के परम पारखी ही उसकी प्रकृति पहचानते और समझते हैं। उनके कान इतने अभ्यस्त होते हैं कि प्रकृति-

विरुद्ध छोटी से छोटी बात भी उन्हें खटक जाती है। परन्तु जो लोग भाषा के पारखी नहीं होते, वे आँखें बन्द करके दुनियाँ भर की उलूल-जलूल बातें अपनी भाषा में भरने का प्रयत्न करते हैं; और इसी प्रकार के प्रयत्नों से अपनी 'प्रगतिशीलता' सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को स्वप्न में भी इस बात का भान नहीं होता कि हम अपनी भाषा का स्वरूप कितना अधिक विकृत करते जा रहे हैं और किस प्रकार उसका गला घोंट रहे हैं। ईश्वर ऐसी 'प्रगति' से हमारी रक्षा करे!

प्रायः कहा जाता है कि एक भाषा में लिखी हुई किसी पुस्तक या लेख आदि का दूसरी भाषा में ठीक-ठीक अनुवाद नहीं हो सकता। यह बात है भी एक हद तक ठीक। परन्तु इसका मुख्य कारण क्या है? कारण है वही—भाषा की प्रकृति। एक ही देश में बोली जानेवाली अथवा एक ही उद्गम से निकलनेवाली भिन्न-भिन्न भाषाओं की प्रकृतियों में कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जो उन सब में प्रायः समान रूप से पाये जाते हैं। जहाँ तक उन तत्त्वों में समानता होती है, वहाँ तक तो उनके पारस्परिक अनुवाद सहज में हो जाते हैं। पर जहाँ उन तत्त्वों में भेद होते हैं, वहीं ठीक अनुवाद करना कठिन होता है। बँगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भारतीय भाषाएँ एक ही जननी संस्कृत की सन्तान हैं (बल्कि हिन्दी तो संस्कृत की प्रत्यक्ष परम्परा में ही है); और इसी लिए इनमें बहुत से समान तत्त्व भी हैं। पर साथ ही बहुत से अ-समान तत्त्व भी हैं जो इनमें से किसी एक अथवा एक से अधिक भाषाओं में ही होते हैं, पर सबमें समान रूप से नहीं होते। अब फारसी भाषा लीजिए। वह भी आर्य परिवार की ही भाषा है, इसलिए उसके भी बहुत से तत्त्व इस परिवार की अन्यान्य भाषाओं के तत्त्वों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। युरोप की बहुत सी भाषाएँ भी हैं तो आर्य परिवार की ही, फिर भी वे बहुत दिनों से हमसे अलग हो चुकी हैं और बहुत दूर जा पड़ी हैं; और इसी लिए उनके बहुत से तत्त्व भारतीय आर्य भाषाओं के तत्त्वों से बिलकुल भिन्न हैं। और अरबी या चीनी-जापानी आदि भाषाएँ तो हैं ही अन्य परिवारों की। यदि उनसे हमारी भाषाओं का बहुत अधिक तात्त्विक भेद हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

जहाँ तक मनुष्य के विचारों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो बहुत सी बातें सब भाषाओं में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ—संज्ञाएँ, क्रियाएँ, विशेषण और क्रिया-विशेषण आदि सभी भाषाओं में होते हैं। फिर भी उनके सूचक शब्दों के रूप या बनावट और उनमें होनेवाले विकार या परिवर्त्तन आदि अलग-अलग प्रकार के होते हैं। वही रूप और प्रकार आदि भाषा की प्रकृति के अंग होते हैं। अब भाव व्यक्त करने की प्रणालियाँ लीजिए। उनमें से कुछ प्रणालियाँ सबमें समान होती हैं, पर अधिकांश एक दूसरी से भिन्न होती हैं; और मुहावरे तो प्रायः सभी के बिलकुल स्वतंत्र होते हैं। जिस सीमा तक एक भाषा के तत्व दूसरी भाषा के तत्त्वों से मिलते-जुलते होते हैं, उस सीमा तक तो उनका पारस्परिक अनुवाद ठीक होता है। उस सीमा से आगे जहाँ अ-समानताएँ होती हैं, वहीं ठीक-ठीक अनुवाद भी असंभव होता है। यही कारण है कि एक भाषा की भाव-व्यंजन प्रणालियाँ दूसरी भाषा में नहीं खपतीं; और एक भाषा के मुहावरों का दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। भाषा की प्रकृति यहीं आकर अपना स्वरूप व्यक्त करती है।

भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियों में जब परस्पर सम्पर्क स्थापित होता है, तब उनमें भाषा सम्बन्धी आदान-प्रदान भी अनिवार्य हो जाता है। यवनों, शकों और हूणों आदि की भाषाओं के न जाने कितने शब्द हम हजम कर गये। आज उन्हें ढूँढ़ निकालना भी हमारे लिए प्रायः असम्भव ही है। परन्तु यह असम्भावना क्योंकर और कैसे उत्पन्न हुई? भाषा की उसी प्रकृति के कारण जो मनुष्य की प्रकृति के बहुत कुछ समान होती है। हमने जो चीजें अपने काम की देखीं, वे अपना लीं; और वह भी इस तरह कि उन्हें अपनी प्रकृति के नितान्त अनुरूप बना लिया—उन्हें पूरी तरह से हजम कर लिया। हमने उन्हें इस प्रकार आत्मसात् कर लिया कि आज हम प्रयत्न करने पर भी सहसा उनका पता नहीं लगा सकते।

इधर बहुत दिनों से फारस और अरब आदि देशों के निवासियों के साथ हमारा सम्बन्ध रहा है। वे लोग आकर किसी न किसी रूप में सारे देश में बढ़ और फैल गये। फल यह हुआ कि देश के सभी भागों में फारसी-अरबी आदि के

कुछ न कुछ शब्द प्रचलित हो गये। परन्तु सब प्रान्तीय भाषाओं में न तो समान रूप से शब्द ही लिये गये और न समान रूप से उनके अर्थ ही। अलग-अलग प्रान्तीय भाषाओं ने अलग-अलग तरह से शब्द लिये और अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार उन्हें हजम किया और उनके अर्थ रक्खे। स्वयं हमारे ही यहाँ के 'टंक' से बना हुआ 'टका' इस प्रान्त में दो पैसे को कहते हैं, पर बंगाल में 'टाका' रुपये को कहते हैं। और बहुत हाल तक पंजाब में उसका रूप 'टगा' एक पैसे के अर्थ में बोला जाता था। जब दो दल आपस में लड़ने के बाद मेल करके कुछ शर्तों पर झगड़ा खतम करते हैं, तब वे शर्तें प्रायः लिखी जाती हैं। उसे 'राजीनामा' कहते हैं। पर मराठी में यही 'राजीनामा' शब्द उस चीज के लिए प्रचलित है जिसे हम 'इस्तीफा' या 'त्यागपत्र' कहते हैं। हमने राजीनामा शब्द दूसरों से ग्रहण करके अपने यहाँ उसी मूल अर्थ में उसे प्रचलित रखा; पर मराठीवालों ने उसे इतना हजम किया कि उसका अर्थ ही बदल दिया। वस्तुतः यह 'रजानामा' का बिगड़ा हुआ रूप है, जो 'राजीनामा' बन गया है। फारसी का एक शब्द है 'गुजश्तः' जिसका विशुद्ध अर्थ है—बीता या गुजरा हुआ, अर्थात् गत या व्यतीत। मराठीवालों ने उसका रूप बनाया 'गुदस्ता' और उसका अर्थ केवल गत या व्यतीत नहीं रखा, बल्कि रखा—गत वर्ष। यहीं तक नहीं; उन्होंने उस 'गुदस्ता' से भी आगे बढ़कर 'तिगस्ता' और 'चौगस्ता' तक शब्द बना डाले और उनके प्रयोग वे उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार हम 'त्योरस' और 'चौरस' साल का करते हैं। हमारे यहाँ के साहित्यज्ञ तो नहीं, पर व्यापारी 'निखरचे' (किसी तरह के बट्टे या दलाली के बिना) का जो प्रयोग करते हैं, वह भी इसी प्रकार का है। यह है भाषा की प्रकृति का कार्य।

संस्कृत का प्रसिद्ध शब्द 'कुमार' हमारे देश के बहुत बड़े भाग में 'कुँवर' के रूप में बोला जाता है। राजपूताने में बड़े आदमियों के लड़कों को 'कँवर' कहने की प्रथा है। परन्तु यह शब्द यहीं तक परिमित नहीं रहा। बड़ा लड़का तो 'कँवर' कहलाया ही, उसके बाद जो हुआ, वह 'भँवर' कहलाने लगा। और उसके भी बाद जो हुआ, वह 'तँवर' कहलाने लगा। इस प्रकार राजस्थानी भाषा ने एक शब्द लेकर उसपर अपनी ऐसी छाप लगा दी कि वह

उसका निजी शब्द तो बना ही, अन्य वैसे ही शब्दों का जनक भी हो गया। हमारे यहाँ भी 'मँझला' के अनुकरण पर 'सँझला' बनता है। फारसी 'जायगाह' से बना हुआ शब्द 'जगह' पूर्ण रूप से हिन्दी ही है और किसी प्रकार परकीय नहीं माना जा सकता। फारसी के 'नर' और 'मादा' (जो वस्तुतः संस्कृत के ही शब्द हैं) शब्दों में से बँगलावालों ने केवल 'मादा' शब्द लिया, पर उसका रूप रखा 'माद्दा'। पर वे यहीं नहीं रुके, इससे कुछ और आगे भी बढ़े। उन्होंने इस 'माद्दा' का अर्थ वह रखा, जो वास्तव में 'नर' का होता है; और तब उस 'माद्दा' का स्त्रीलिंग रूप बनाया 'मेद्दी'! अब कौन कह सकता है कि 'गुदस्ता' और 'तिगस्ता' मराठी के शब्द नहीं है और 'मेद्दी' बँगला का शब्द नहीं है? इसी प्रकार अरबी-फारसी आदि के बहुत-से शब्द ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में अलग-अलग रूपों और अलग-अलग अर्थों में प्रचलित हैं। वे सब नये-नये रूप और नये-नये अर्थ अलग-अलग भाषाओं की प्रकृतियों के सूचक हैं, उसी की ओर संकेत करते हैं।

बँगलावाले बहुत बड़े पंडित को कहते हैं—'मस्त पंडित', तो हम बहुत बड़े मकान को कहते हैं—'दंगल मकान'। हमारे यहाँ का 'कंगाल' शब्द संस्कृत के 'कंकाल' से और अनाड़ी शब्द 'अनार्य' से निकलने पर भी मूल से बहुत दूर चला गया है—इतनी दूर चला गया है कि दोनों में कम-से-कम अर्थ का तो कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। चीन से 'ली-चू' ने आकर 'लीची' का और यूनान से 'ओपियम' ने आकर 'अफीम' का रूप धारण कर लिया। अँगरेजी का टेढ़ा-मेढ़ा 'लैन्टर्न' शब्द हमारे यहाँ आकर सीधा-सादा 'लालटेन' बन गया और 'प्लैटून' ने 'पल्टन' रूप धारण कर लिया। मराठी में कैंडल (Candle) से 'कंदिल' और हिन्दी में 'कंडील' बना, पर लालटेन के अर्थ में; 'बत्ती' के अर्थ में नहीं, जो उस शब्द का मूल अर्थ है। यही बात क्रियाओं और विशेषणों के सम्बन्ध में भी है। जब हम 'बहस' में 'ना' प्रत्यय लगाकर 'बहसना' और 'लीग' में ी जोड़कर 'लीगी' (विशेषण) बना लेते हैं, तब ये शब्द हमारे ही हो जाते हैं। उस दशा में कौन कह सकता है कि ये सब शब्द पराये हैं?

जब हम कहते हैं—'हम अपने घर जायँगे।' तब हम अपनी भाषा का ठीक-ठीक अनुकरण करते हैं। पर यदि हम कहें—'हम हमारे घर जायँगे।' तो बँगलावाले कहेंगे कि यह हमारा अनुकरण है। मध्य प्रदेश के हिन्दी-भाषी प्रायः 'हम हमारे घर जायँगे' सरीखे प्रयोग करते हैं। और उनका 'अपन' शब्द तो मराठी 'आपण' का सीधा-सादा अनुकरण है ही। पर वास्तव में ये प्रयोग होते हैं हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध ही। यदि बँगलावाले कहें—'आमी आमार बाड़ी जाबो।' तो वह हमारा अनुकरण न होगा। यदि हम 'परिश्रम करना' 'हानि करना' या 'स्मरण कराना' कहें तो वह किसी का अनुकरण न होगा। पर यदि हम 'मेहनत उठाना', 'हानि पहुँचाना' या 'याद दिलाना' कहें तो वह अवश्य दूसरों का अनुकरण हो जायगा, क्योंकि उस अवस्था में हम अपनी भाषा की प्रकृति से दूर हो जायँगे। 'चार फुट' और 'कागज' (बहु० में भी) कहना तो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होगा, परन्तु 'चार फीट' और 'कागज़ात' कहना इसलिए हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध होगा कि हमारे यहाँ कोई ऐसा नियम नहीं है जिससे 'फुट' का बहुवचन 'फीट' या 'कागज' का बहुवचन 'कागजात' बनता हो। हमारे व्याकरण के अनुसार 'वकील' से भाववाचक संज्ञा 'वकीली' ही बनेगी, 'वकालत' नहीं। इसी प्रकार 'पुलकेशी द्वितीय' और 'जार्ज पंचम' सरीखे प्रयोग भी हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हैं। हमारी प्रकृति तो 'द्वितीय पुलकेशी' और 'पंचम जार्ज' कहने की है। यही बात 'पाठ १' और 'पाठ २' आदि के सम्बन्ध में भी है। हमारे यहाँ उनका रूप होगा--पहला पाठ और दूसरा पाठ।

आज-कल प्रायः लोग प्रश्नात्मक वाक्यों में 'क्या' बिलकुल अन्त में रखते हैं। जैसे—'आप वहाँ जायँगे क्या ?' 'उन्होंने आपको पुस्तक भेज दी क्या ?' पर इस प्रकार के प्रयोग भी हिन्दी की प्रकृति के नितान्त विरुद्ध हैं और पहले-पहल बँगला अनुवाद की कृपा से हिन्दी में आने लगे थे। अब तो मराठी के सम्पर्क के कारण इनका प्रचार और भी बढ़ गया है। पर हमारी भाषा की प्रकृति कहती है कि ऐसे प्रयोग हमारे नहीं हैं और इसी लिए त्याज्य हैं। हिन्दी में तो—'क्या आप वहाँ जायँगे ?' आदि कहना ही ठीक होगा।

हम 'ताजी रसोई' तो शौक से खाते हैं, पर 'जरी सी लापरवाही' देखकर ही नहीं, बल्कि 'उम्दी बात' सुनकर भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। कारण यही है कि 'ताजा' और उसका स्त्री० रूप 'ताजी' तो हमारी प्रकृति के अनुकूल पड़ता है, पर 'जरी' और 'उम्दी' हमारी प्रकृति के विरुद्ध हैं। किसी समय हम लोग 'भारी' को स्त्रीलिंग मानकर उसका पुल्लिंग रूप 'भारा' भी बनाते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—'रहे तहाँ निसिचर भट भारे।' पंजाब में अब भी पु० में 'भारा' और स्त्रीलिंग में 'भारी' बोलते हैं; पर अब यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, और प्रायः दोनों लिंगों में 'भारी' का प्रयोग होने लगा है। उर्दू वाले याँ-वाँ और यों-वों का प्रयोग करते हैं। पर हिन्दी में इनमें से केवल 'यों' ग्रहण किया गया है; बाकी शब्द प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण नहीं लिये जा सके। 'इस्म मुबारक' (या शरीफ) की जगह हम यह तो पूछने लगे—'आपका शुभ नाम ?' क्योंकि यह हमारी प्रकृति के अनुकूल था; पर 'खाना खाना' हमें अब भी इसी लिए परकीय जान पड़ता है कि वह हमारी प्रकृति के विरुद्ध है। उर्दू वालों का 'खाना' (संज्ञा, भोजन के अर्थ में) हम हजम नहीं कर सकते। यही बात 'आवाज उठाना' के सम्बन्ध में भी है जो अँगरेजी की कृपा से और उर्दू के द्वारा हमारे यहाँ आना चाहता है। पर अब कुछ लोग 'जनता की शिकायत ऊँची उठानेवाले जन-सेवक' की ओर भी प्रवृत्त होने लगे हैं! यह अपनी भाषा की प्रकृति पर अत्याचार करने के सिवा और कुछ नहीं है।

कुछ अवसरों पर जब हम अरबी-फारसी आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब हमें उनके साथ विभक्ति भी उन्हीं भाषाओं की प्रकृति के अनुसार लगानी पड़ती है। उदाहरणार्थ हम अपने यहाँ के 'पीछे' के साथ 'से' विभक्ति लगाते हैं। जैसे—'पीछे से कुछ लोग आकर हुल्लड़ मचाने लगे।' पर यदि हम 'पीछे' की जगह अरबी का 'बाद' शब्द रक्खें तो हमें उसके साथ 'को' या 'में' रखना पड़ेगा। इसी प्रकार हम यह तो कह सकते हैं—'हम कई जगह कह चुके हैं।' पर यह नहीं कह सकते—'हम कई स्थान कह चुके हैं।' हमें यही कहना पड़ेगा—'हम कई स्थान (बल्कि स्थानों) पर कह चुके हैं।' तात्पर्य यह कि 'जगह' के साथ तो 'पर' की आवश्यकता नहीं होगी,

परन्तु 'स्थान' या 'स्थानों' का उसके विना काम न चलेगा। इनसे तथा ऊपर के 'याद दिलाना' और 'मेहनत उठाना' आदि उदाहरणों से सूचित होता है कि भाषा की प्रकृति उसकी संज्ञाओं, विभक्तियों और क्रियाओं आदि का कहाँ तक साथ देती है।

अरबी में 'जल्द' क्रिया-विशेषण है और उससे संज्ञा 'जल्दी' बनती है। पर हिन्दी में हम 'जल्दी' का व्यवहार क्रिया-विशेषण के रूप में भी और संज्ञा के रूप में भी करते हैं। उसका क्रिया-विशेषण वाला 'जल्द' रूप हमारी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ता। इसी प्रकार फारसी का 'देर' शब्द है। हम 'देर' का प्रयोग तो करते ही हैं, पर उसी अर्थ में उसका दूसरा रूप 'देरी' भी बना लेते हैं। परन्तु 'खुश' और 'खुशी' के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। हम 'खुश' का प्रयोग विशेषण के रूप में ही और 'खुशी' का संज्ञा के रूप में ही करते हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग भूल से 'खुशी' का प्रयोग भी विशेषण के रूप में कर जाते हों। जैसे—'वे आपको देखते ही खुशी हो जायँगे।' पर हम अशुद्ध प्रयोगों के आधार पर कोई सिद्धान्त नहीं बना सकते। सिद्धान्त तो शुद्ध प्रयोगों के आधार पर ही बनते हैं। और ऊपर के शब्दों के शुद्ध प्रयोग हमारी प्रकृति के सूचक हैं।

एक ही भाषा में प्रान्त-भेद से भी प्रकृति-सम्बन्धी भेद देखने में आते हैं। पश्चिमी हिन्दी में नहीं तो कम से कम आगरे और दिल्ली आदि में लोग बोलते हैं—'वह कहवै था', 'मैं जाऊँ था'. आदि[1]। कुछ पश्चिमी जिलों में 'है' के साथ 'गा' भी लगा देते हैं; और कहते हैं—'वह गया हैगा।' पर शिष्ट हिन्दी में ऐसे प्रयोगों के लिए कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि ऐसे प्रयोग विशुद्ध हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध पड़ते हैं। हाँ, यदि हमें उक्त स्थानों की स्थानिक बोलियों का विवेचन करना हो तो हमें मानना पड़ेगा कि वे अमुक बोली की प्रकृति के अंग ही हैं। प्रांतीयता और स्थानिकता का यह भेद उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्थानों में शब्दों

---

१. अब कुछ लोग साहित्य में भी इस प्रकार के प्रयोग करने लगे हैं। जैसे—'मैं भी कहूँ, क्या बात है।' 'यहाँ कहूँ' 'कहता था' या 'सोचता था' के अर्थ में लाया गया है।

के रूप भी अलग-अलग प्रकार से बनते हैं। संस्कृत का शब्द है—'बलिवर्द'। पश्चिमी हिन्दी में उसके पूर्वार्द्ध से 'बैल' शब्द बना; और पूर्वी हिन्दी में उसके उत्तरार्द्ध से 'बरधा' शब्द बना। क्यों? इसी लिए कि दोनों की प्रकृतियाँ अलग-अलग ढंग से काम करती थीं।

हम प्रायः दूसरी भाषाओं के प्रभाव में पड़कर अपनी भाषा की प्रकृति बिलकुल भूल जाते हैं और उससे बहुत दूर जा पड़ते हैं। एक वाक्य है—'सरकार जानती है कि राजे और नवाब हमारे विरुद्ध नहीं जा सकते।' इसमें का 'विरुद्ध नहीं जा सकते' अँगरेजी Cannot go against का अविकल अनुवाद है और हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। हमारी प्रकृति के अनुरूप होगा—'विरुद्ध नहीं हो सकते' अथवा 'विरुद्ध नहीं चल सकते।' एक और प्रकार का उदाहरण लीजिए। एक समाचार-पत्र में प्रकाशित एक वाक्य है—'कायदे आजम पर उनके सभी सहयोगियों का विश्वास नही रहा।' यह अँगरेजी के जिस वाक्य का अनुवाद है, उसका आशय यह है कि सब सहयोगियों का (कायदेआजम पर) विश्वास नहीं है; फिर भी कुछ का विश्वास है। पर वाक्य का शाब्दिक अनुवाद होने के कारण हिन्दी में उसका आशय यही समझा जायगा कि उनके किसी सहयोगी का उनपर विश्वास नहीं रह गया, जो वास्तविक आशय से बिलकुल भिन्न है। यहाँ भाव प्रकट करने के संबंध में दोनों भाषाओं की अलग-अलग प्रकृतियाँ, मुहावरेवाले तत्त्व के रूप में, स्पष्ट हो जाती हैं।

कुछ अवसरों पर भाषा की प्रकृति शब्दों के उच्चारणों के क्षेत्र में भी काम करती हुई दिखाई देती है। जैसे—'क़', 'ज़' और 'फ़' आदि के अरबी-फारसीवाले उच्चारण प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के लिए परकीय ही ठहरते हैं। अँगरेजी के 'लैम्प' और 'कैम्प' अथवा 'कॉल' और 'हॉल' सरीखे शब्द हमारे यहाँ तभी खपते हैं, जब हम उन्हें 'लंप', 'कंप', 'काल' और 'हाल' आदि रूप देते हैं। यह ठीक है कि कुछ अवसरों पर हमें ऐसे शब्दों के मूल उच्चारणों की भी आवश्यकता पड़ती है, पर वे रहते हैं हमारी प्रकृति के विरुद्ध ही। अँगरेजी के 'स्कूल' और 'स्टेशन' सरीखे शब्द हमारे यहाँ बहुत कुछ 'इस्कूल' और 'इस्टेशन' आदि के रूप में उच्चरित होते हैं। बँगला में भी

इनके उच्चारण बहुत-कुछ इसी प्रकार के होते हैं। पर पंजाबी प्रायः 'सकूल' और 'सटेशन' तो कहते ही हैं, पर जहाँ हम इनके पहले 'इ' लगाते हैं, वहाँ वे लोग 'अ' रखकर 'अस्कूल' और 'अस्टेशन' का सा उच्चारण करते हैं। बात यह है कि शब्द के आरम्भ में यदि 'स' के साथ कोई और और अक्षर संयुक्त होता है, तब उसका उच्चारण कुछ कठिन होता है। इसी लिए हम स्त्री' का उच्चारण बहुत कुछ 'इस्त्री' के समान करते हैं। पंजाबी भी जब खाली 'स्कूल' या 'स्टेशन' कहने का प्रयत्न करेंगे, तब उनके मुँह से 'सकूल' और 'सटेशन' ही निकलेगा। पर जब वे ऐसे शब्दों के आरम्भ में अ लगा देंगे, तब 'अस्कूल' और 'अस्टेशन' कहेंगे, अर्थात् उस अवस्था में 'स्क' और 'स्ट' के ठीक-ठीक उच्चारण कर सकेंगे। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि हम जन-साधारण की चर्चा कर रहे हैं, विशेष रूप से शिक्षित लोगों की नहीं। और भाषा की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय जन-साधारण की बोल-चाल से ही लगता है।

भाषा की प्रकृति का ठीक ज्ञान न होने के कारण जो अनेक प्रकार की भूलें होती हैं, उनमें से एक विलक्षण प्रकार की भूल का उदाहरण लीजिए। प्रायः बोल-चाल में जल्दी या असंस्कार के कारण किसी शब्द के अक्षर कुछ आगे-पीछे हो जाते हैं। इसे वर्ण-विपर्यय या वर्ण-व्यत्यय कहते हैं। संस्कृत से निकले हुए कई ऐसे तद्भव शब्द हैं, जिनमें यह वर्ण-व्यत्यय पाया जाता है। जैसे 'अरोक' से 'अकोर।' साधारणतः बोल-चाल में भी बालक और अशिक्षित प्रायः वर्ण-व्यत्यय कर देते हैं। हमने दो-एक बालकों को 'जमीन' की जगह 'मजीन' बोलते हुए सुना है। गँवार लोग प्रायः 'अंदाज' को 'अंजाद' कहते हैं। 'पहुँचाना' की जगह 'चहुँपाना' तो युक्त प्रान्त के कई पूरबी जिलों और बिहार के कई पश्चिमी जिलों में आम तौर पर बोला जाता है। बैसवाड़े में 'नहाये' की जगह 'हनाये' ही बोलते हैं। इसी प्रकार का एक शब्द है 'झमेला' जिसे इस प्रान्त के पश्चिमी जिलों में कुछ लोग भूल से 'मझेला' भी कह जाते हैं। साधारणतः इस प्रकार के शब्द साहित्य में नहीं लिये जाते। परन्तु भाषा-विज्ञान का यह तत्व और अपनी भाषा की प्रकृति या शब्दों का स्वरूप न जानने के कारण ही उर्दू के कुछ शायर यह 'मझेला' शब्द भी अपने शैरों में बाँध गये हैं। जैसे—

न पूछो मुलाकात क्योंकर निभी।
हजारों तरह के मझेले रहे॥

भाषा की प्रकृति लिंग और विभक्ति-प्रत्यय आदि के क्षेत्र में भी समान रूप से काम करती हुई दिखाई देती है। प्रायः रह-रहकर यह प्रस्ताव हुआ करता है कि हिन्दी से लिंग-भेद उठा दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसके कारण अन्य भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने में बहुत कठिनता होती है। पर यह प्रस्ताव या तो वे लोग करते हैं जो हमारी भाषा की प्रकृति नहीं समझते, या वे लोग करते हैं जिनकी मातृ-भाषा की प्रकृति क्रियाओं आदि में लिंग-भेद रखने के प्रतिकूल होती है; जैसे बंगाली आदि। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि भाषा की प्रकृति बदलना उतना सहज नहीं है, जितना उसकी प्रवृत्ति बदलना। पहले कई प्रसंगों में हम यह बतला चुके हैं कि किस प्रकार की बातें हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल होती हैं। हिन्दी की प्रकृति के सम्बन्ध की कुछ बातें 'छाया-कलुषित भाषा' और 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकरणों में भी बतलाई गई हैं। अतः यहाँ हम ये थोड़ी सी बातें बतलाकर ही यह प्रकरण समाप्त करते हैं; और यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि भाषा की प्रकृति और चीज है, उसकी प्रवृत्ति कुछ और चीज। इन दोनों को भ्रम से एक न समझ लेना चाहिए।



साहित्य-रत्न-माला

चुनी हुई पुस्तकें

बौद्ध-कालीन भारत

(लेखक—श्रीयुत पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०)

जिन लोगों ने इस माला की पहली पुस्तक "साहित्यालोचन" और दूसरी पुस्तक "भाषा विज्ञान" को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनसे इसके संबंध में हम केवल यह निवेदन करना चाहते हैं कि उक्त दोनों पुस्तकों की भाँति यह तीसरी पुस्तक भी बहुत उच्च कोटि की हुई है और इसने भी स्थायी साहित्य में स्थान पाया है। अँग्रेजी तथा हिन्दी आदि के सैकड़ों उत्तमोत्तम ग्रंथों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन और मनन करके यह पुस्तक बहुत ही परिश्रमपूर्वक लिखी गई है। हिंदी के सभी बड़े बड़े विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बहुत अधिक प्रशंसा की है और इसे बहुत उच्च कोटि का ग्रंथ कहा है। यह पुस्तक ऐतिहासिक होने पर भी उपन्यास का सा आनन्द देती है। साहित्य-प्रेमियों को और विशेषतः इतिहास-प्रेमियों को इसकी एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। इस पुस्तक में आपके जानने योग्य सैकड़ों हजारों उपयोगी बातें भरी पड़ी हैं, जिन्हें पढ़ते ही आप मुग्ध हो जायँगे। हिन्दी में यह अपने ढंग की अनुपम और अपूर्व पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या प्रायः चार सौ से ऊपर है। बढ़िया एण्टीक कागज की जिल्द बँधी प्रति का मूल्य ३) और अच्छे चिकने कागज पर छपी सादी पुस्तक का मूल्य २।) है।

प्रकीर्णक पुस्तकमाला

(१) हिन्दी भाषा का विकास—यह भाषा-विज्ञान नामक ग्रंथ का दसवाँ प्रकरण है जो अलग छापा गया है। विषय नाम से ही स्पष्ट है। अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक है। दूसरा संस्करण। मूल्य ॥|=)

(२) जातक कथा माला—(पहला भाग) बुद्ध भगवान् के पूर्व जन्मों की मनोहर और शिक्षाप्रद कहानियाँ। विशेषतः बालकों और नवयुवकों के लिए बहुत ही उपयोगी संग्रह। मू० १।)

(३) जनमेजय का नागयज्ञ—हिन्दी के सुप्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्रीयुक्त बाबू जयशंकर प्रसाद जी लिखित बहुत ही उच्च कोटि का नाटक। मूल्य ॥|=)

(४) रूपक-रत्नावली—(पहला भाग) इस पुस्तक में महाराज भास्करदत्त के पुत्र विशाखदत्त (विशाखदेव) कृत "मुद्रा-राक्षस", महाराज श्री हर्षदेव कृत "रत्नावली" नाटिका, महाकवि भवभूति के दो नाटक "मालतीमाधव" और "उत्तर-रामचरित" तथा कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना "शकुन्तला" इन पाँच नाटकों का कथा-भाग सुंदर और सरल कहानियों के रूप में दिया गया है। तीसरा संस्करण मूल्य १॥)

(५) रूपक-रत्नावली—(दूसरा भाग) इसमें कालिदास कृत "विक्रमोर्वशी" तथा "मालविकाग्निमित्र" भास कृत "स्वप्न-वासवदत्ता", क्षेमीश्वर कृत "चंड कौशिक", राजशेखर कृत "कर्पूर मंजरी" और श्री हर्षदेव कृत "प्रियदर्शिका" तथा "नागानन्द" इन सात नाटकों का कथा-भाग है। दोनों भागों में इन नाटकों की सभी उत्तम, उपयोगी और जानने योग्य बातें हैं जो बहुत ही मधुर और ओजस्विनी भाषा में सुंदर कहानियों के रूप में दी गई हैं। विद्यार्थियों के लिए बहुत अधिक उपयोगी है। मूल्य १॥)

साहित्य-रत्नमाला कार्यालय,
बनारस।